प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, बनारस-१

(पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)
1955

मुद्रक
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

पञ्चतन्त्रम्



अथ काकोलूकीयम्

[तृतीयं तन्त्रम्]

अथेदमारभ्यते काकोलूकीयं[1] नाम तृतीयं तन्त्रम् । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य, उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥ १ ॥

'काकोलूकीय' नामक यह तृतीय तन्त्र आरम्भ किया जाता है जिसका यह प्रथम श्लोक है:—

प्रथम शत्रुता रखने वाले, पीछे मित्रता को प्राप्त हुए भी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए, कौवे से लगाई हुई अग्नि के द्वारा उल्लुओं से भरी हुई गुफा को भस्म हुआ देखो ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य समीपस्थोऽनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छन्नो[2] न्यग्रोधपादपोऽस्ति । तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः[3] प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति । तथाऽन्योऽरिमर्दनो नामोलूकराजोऽसंख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म । स च रात्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात्परिभ्रमति । अथोलूकराजः पूर्वविरोधवशाद्यं कञ्चिद्वायसमासादयति, तं व्यापाद्य[4] गच्छति । एवं नित्याभिगमनाच्छनैः शनैस्तन्न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तान्निर्वायसं कृतम् । अथवा भवत्येवम् ।

---

१. सन्धिविग्रहादिसम्बन्धं का. । २. समीपेऽनेकखगसनाथो । ३. परिवृतः । ४. व्यापादयति वा ।

उक्तं च—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चाऽलस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

जैसा कि सुना जाता है—दक्षिण देश में महिलारोप्य नामक एक नगर था उसके पास, अनेक शाखाओं से युक्त, अत्यन्त घने पत्तों से ढका हुआ एक बड़ का पेड़ था। उस पर मेघवर्ण नाम का कौवों का राजा रहता था उसके परिवार में अनेक कौवे थे। वह वहीं अपना दुर्ग बनाकर परिवार सहित समय बिताता था-रहता था। तथा, अरिमर्दन नाम का एक दूसरा उल्लुओं का राजा असंख्य उल्लुओं के परिवार के साथ पर्वत की गुफारूपी किले में रहता था। वह हमेशा ही रात्रि में आकर उस वट-वृक्ष के चारों ओर घूमा करता और पूर्व शत्रुता के कारण, जिस किसी कौवे को पाता उसे मारकर जाता था। इस तरह प्रतिदिन आक्रमण करके धीरे-धीरे उसने, वह न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग बाहर की ओर से कौवों से रहित कर दिया-बाहर के हिस्से में रहने वाले सब कौवे मार डाले। अथवा ऐसा होता ही है। कहा भी है:—

जो मनुष्य, आलस्य में पड़कर स्वच्छन्दता से बढ़ते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा करता है-उसके रोकने की चेष्टा नहीं करता-वह क्रमशः उसी (शत्रु अथवा रोग) से मारा जाता है ॥ २ ॥

तथा च—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिश्च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य शत्रु तथा रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं करता महाबलवान् भी वह बढ़े हुए उस रोग व शत्रु से मारा जाता है (पाठान्तर में) अत्यन्त पुष्ट अङ्गों वाला भी वह उससे मारा जाता है ॥ ३ ॥

अथान्येद्युः स वायसराजः सर्वान्सचिवानाहूय प्रोवाच-भोः! उत्कटस्तावदस्माकं शत्रुरुद्यमसंपन्नश्च कालविच्च नित्यमेव निशागमे समेत्यास्मत्पक्षकदनं करोति। तत्कथमस्य प्रतिविधातव्यम्? वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः, न च दिवा दुर्गं विजानीमो येन गत्वा प्रहरामः। तदत्र किं युज्यते सन्धि-विग्रह-याना-सन-संश्रय-द्वैधीभावानां मध्यात्। अथ ते प्रोचुः-युक्तमभिहितं देवेन यदेष प्रश्नः कृतः। उक्तं च—

अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन ।
पृष्टेन त्वरितं वाच्यं पथ्यञ्च प्रियमप्रियम् ॥ ४ ॥

अनन्तर एक दिन कौवों के राजा ने सब मन्त्रियों को बुलाकर कहा—हमारा शत्रु बलवान्, पुरुषार्थी और समयज्ञ है। वह प्रतिदिन ही रात्रि के प्रारम्भ में आकर हमारे आदमियों को मारता है उसका क्या उपाय करना चाहिए ? हमलोग रात्रि में देख नहीं सकते और न उसके दुर्ग को ही जानते हैं जिससे दिन में जाकर उनको मारें, इसलिये सन्धि आदि ६ नीति के अङ्गों में से यहां किसका उपयोग है-किसे काम में लाना चाहिए ? उन लोगों ने कहा—आपने बहुत ठीक कहा जो यह बात पूछी। कहा भी है :—

मन्त्री को चाहिए कि ऐसी दशा में, बिना पूछे भी कुछ कहना चाहिए (उपदेश देना चाहिए) पूछने पर तो शीघ्र ही (समय नष्ट किये बिना ही) हितकारी बात कहनी चाहिए चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय ॥ ४ ॥

यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।
मन्त्री च प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ॥ ५ ॥

जो पूछने पर भी अन्त में सुखदायक हित की बात नहीं कहता वह मन्त्री तथा केवल मितभाषी मनुष्य शत्रु कहा गया है ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपते ! ।
येन तस्य वयं कुर्मो नियमं कारणं तथा ॥ ६ ॥

इसलिये, हे राजन् ! एकान्त में विचार करना चाहिए जिससे हम लोग उसकी (शत्रुता के) कारण जान सकें और उसका निग्रह कर सकें ॥ ६ ॥

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागतोज्जीवि-सञ्जीवि-अनुजीवि-प्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पञ्च सचिवान्प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धः। तत्रैतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्—'भद्र! एवं स्थिते किं मन्यते भवान् ?' स आह—राजन्! बलवता सह विग्रहो न कार्यः। यतः स बलवान्कालप्रहर्ता च तस्मात्सधेयः।

उक्तं च—

बलीयसि प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।
सम्पदो नावगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥ ७ ॥

तब मेघवर्ण ने कुलक्रमागत उज्जीवि आदि ५ मन्त्रियों में से प्रत्येक से पूछना

शुरू किया। पहिले उनमें से उज्जीवि से पूछा—भद्र! ऐसी दशा में आप की क्या राय है? उसने कहा—राजन्! बलवान् के साथ युद्ध न करना चाहिए। चूँकि वह बलवान् और समय पर प्रहार करने वाला है इसलिये उसके साथ सन्धि करनी चाहिए। कहा भी है—उन पुरुषों की सम्पत्तियां, जो शत्रु के बलवान् होने पर उसको प्रणाम करते तथा समय पर—उसकी कोई कमजोरी पाकर-उस पर प्रहार भी करते हैं, उन को छोड़ कर नहीं जाती जैसे कि नदियाँ कभी उलटी नहीं बहतीं॥ ७॥

सत्याढ्यो धार्मिकश्चार्यो भ्रातृसङ्घातवान् बली।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत्॥ ८॥

सत्यवादी, धर्मात्मा, सज्जन, अनेक भाइयों वाला, बलवान् और अनेक युद्ध विजयी शत्रु सन्धि के योग्य होता है॥ ८॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम्॥ ९॥

जीवन में सन्देह उपस्थित होने पर दुष्ट पुरुष के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योंकि प्राणों की रक्षा होने पर सब की रक्षा हो जाती है॥ ९॥

योऽनेकयुद्धविजयी स तेन विशेषात्सन्धेयः। उक्तं च—

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः॥ १०॥

अनेक युद्धों का विजेता नृपति जिसके साथ सन्धि द्वारा मित्रभाव को प्राप्त होता है उसके (बलवान् के साथ सन्धि करने वाले के) शत्रु उसके (बलवान् राजा के) प्रभाव से शीघ्र ही वश में हो जाते हैं॥ १०॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि।
न हि सांशयिकं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥ ११॥

चूँकि युद्ध में विजयप्राप्ति अनिश्चित होती है इसलिये समान बल वाले शत्रु के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि बृहस्पति ने कहा है कि संशययुक्त कार्य कभी न करना चाहिए॥ ११॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युद्ध्यताम्।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत्॥ १२॥

इस संसार में युद्ध करने वाले पुरुषों का विजय युद्ध में अनिश्चित होता है

इसलिये साम, दाम, भेद नामक तीनों उपायों के अनन्तर (इनके विफल होने पर) युद्ध करना चाहिए॥ १२॥

असन्दधानो मानान्धः समेनापि हतो भृशम्।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसंक्षयम्॥ १३॥

जो राजा अभिमान से अन्धा होकर दूसरे के साथ सन्धि नहीं करता वह समान बल वाले शत्रु से अच्छी तरह ताडित हो इस प्रकार दोनों का नाश कर देता है जैसे कि दो कच्चे घड़े आपस में टकरा कर एक दूसरे का नाश कर देते हैं।

समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे।
दृषत्कुम्भं यथा भित्त्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान्॥ १४॥

बलवान् पुरुष के साथ निर्बल पुरुष का युद्ध उस (दुर्बल) के नाश का ही कारण होता है जैसे कि पाषाण घड़े को फोड़ कर स्वयं निर्विकार ही रहता है इसी प्रकार समर्थ दुर्बल का नाश कर स्वयं अक्षत शरीर ही रहता है॥ १४॥

अन्यच्च—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम्।
नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रहं न समाचरेत्॥ १५॥

राज्य, मित्र और धन ये तीन युद्ध के लाभ हैं। यदि इनमें से एक भी न हो—एक के भी प्राप्त होने की आशा न हो—तो युद्ध न करें॥ १५॥

खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम्।
प्राप्नोति नखभङ्गं हि फलं वा मूषको भवेत्॥ १६॥

यदि सिंह पत्थर के टुकड़ों से व्याप्त चूहे के बिल को खोदता है तब या तो उसके नाखून टूट जाते हैं और यदि कुछ फल मिलता भी है तो एक चूहामात्र॥१६॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र पुष्टं युद्धं तु केवलम्।
न हि तत्स्वयमुत्पाद्यं कर्तव्यं न कथञ्चन॥ १७॥

इसलिये जहाँ (जिस युद्ध में) कोई लाभ न हो केवल युद्ध ही हो उसको स्वयं अपनी ओर से कभी उत्पन्न न करना चाहिए (दूसरे से उत्पन्न होने पर) भी बचाना चाहिए॥ १७॥

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत्।
वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गीं कदाचन॥ १८॥

स्थिर लक्ष्मी चाहने वाले मनुष्य को उचित है कि वह बलवान् शत्रु से

आक्रमण किये जाने पर वेंत का सा व्यवहार (जिस प्रकार तेज हवा चलने पर वेंत हवा की ओर झुक जाता है अतएव टूटता नहीं) करना चाहिए सर्प जैसा व्यवहार कदापि न करे ॥ १८ ॥

कुर्वन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

वेंत सम्बन्धी व्यवहार (नम्रता) करता हुआ मनुष्य विपुल सम्पत्ति पाता है और सर्प की वृत्ति का आचरण करता हुआ केवल वध के योग्य होता है ॥१९॥

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥

बुद्धिमान को चाहिये कि कूर्म के सङ्कोच को देखकर प्रहारों (आपत्तियों) का सहन करे और समय समय पर कृष्ण सर्प के समान अभ्युत्थान करता रहे ॥२०॥

आगतं विग्रहं दृष्ट्वा[1] सुसाम्ना प्रशमं नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसा[2] न समुत्पतेत् ॥ २१ ॥

युद्ध को उपस्थित देख कर साम प्रयोग से उसे शान्त कर देवे । विजय के अनिश्चित होने से (युद्ध में कभी पराज्य भी होता है) युद्ध के लिये जल्दबाजी न करनी चाहिए ॥ २१ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करना चाहिए ऐसा कोई नीतिशास्त्र का नियम नहीं है (अथवा) इस विषय में कोई दृष्टान्त नहीं है । मेघ कभी भी वायु के प्रतिकूल नहीं चलता ॥ २२ ॥

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारकं विज्ञप्तवान् । अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह-भद्र ! तवाभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि । स आह-देव ! न ममैतत्प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह संधानं क्रियते । उक्तं च यतः—

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उज्जीवी ने सन्धि कराने वाले साममन्त्र की सलाह दी । अनन्तर

---

१. मत्वा । २. रभसं च समुत्सृजेत् ।

उसे सुन कर संजीवी से कहा–भद्र ! मैं तुम्हारी राय भी सुनना चाहता हूँ । उसने कहा–देव ! मुझे यह बात पसन्द नहीं जो शत्रु के साथ सन्धि की जावे । क्योंकि कहा भी है—

अच्छे प्रकार की गई भी सन्धि के द्वारा शत्रु के साथ मेल न करना चाहिए। जल गरम किया हुआ भी अग्नि को बुझा ही देता है ॥ २३ ॥

अपरं च स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः। तत्त्वया विशेषान्न सन्धेयः। उक्तं च—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

सत्यरूपी धर्म से रहित (मिथ्यावादी) पुरुष के साथ किसी प्रकार भी सन्धि न करनी चाहिए क्योकि (ऐसा पुरुष) अच्छे प्रकार सन्धि करके भी अपनी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विकार को प्राप्त हो जाता है—बदल जाता है ॥ २४ ॥

तस्मात्तेन योद्धव्यमिति मे मतिः । उक्तं च यतः—

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादो भीरुरस्थिरः ।
मूढो योधावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥ २५ ॥

इसलिये उसके साथ युद्ध करना चाहिए, यह मेरी राय है । कहा भी है—

निर्दयी, लोभी, आलसी, झूठ बोलने वाला, असावधान, डरपोक, किसी बात पर दृढ़ न रहने वाला, मूर्ख और सिपाहियों का अपमान करने वाला शत्रु आसानी से नष्ट किया जा सकता है ॥ २५ ॥

अपरं तेन परभूता वयम्; तद्यदि सन्धानकीर्तनं करिष्यामस्तद्भूयोऽत्यन्तं[1] कोपं करिष्यति । उक्तं च—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ २६ ॥

दूसरी बात यह है कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये यदि हम सन्धि की चर्चा करेंगे तो वह और भी अधिक क्रोध करेगा । कहा भी है—

चतुर्थ उपाय-दण्ड–से वश में करने योग्य शत्रु के प्रति शान्ति की चर्चा अनुचित तरीका है, कौन समझदार (वैद्य) पसीने के द्वारा चिकित्सा करने योग्य नवीन ज्वर में (रोगी को) स्नान कराता है ॥ २६ ॥

---

१. योऽपि काकविनाशम् ।

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपिकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार तपे हुए घी में पड़ी हुई जल की बूँदे पड़ते ही उसे शान्त करने के बजाय और अधिक प्रज्वलित कर देती हैं इसी तरह क्रुद्ध हुए शत्रु से (कहे हुए) शान्ति के वचन उसको और भी अधिक क्रुद्ध कर देते हैं ॥ २७ ॥

यच्चैतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् । उक्तं च यतः—

प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ २८ ॥

और जो यह कहते हैं कि शत्रु बलवान् है, यह भी उचित हेतु नहीं है। कहा भी है क्योंकि—

चित्तोत्साह से भरा हुआ सिंह डीलडौल वाले मत्त हाथी के मस्तक पर पैर रखता है—उसको जीत लेता है ॥ २८ ॥

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नागं भारद्वाजाः प्रचक्षते ॥ २९ ॥

उत्साहशक्ति (कार्यसम्पादन में दृढ़ प्रयत्नशील होना) से युक्त छोटा (निर्बल) भी पुरुष बड़े शत्रु को भी मार सकता है जैसे कि (हाथी की अपेक्षा छोटे शरीर वाला भी) सिंह हाथी को मार डालता है। ऐसा भारद्वाज कहते हैं ॥ २९ ॥

मायया शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ ३० ॥

जो शत्रु पराक्रम द्वारा न मारे जा सकें उनको कपट नीति से मारना चाहिए। जैसे कि भीमसेन ने स्त्री-वेश धारण कर कीचक को मारा था ॥ ३० ॥

तथा च—

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।
सर्वंसहन्तु मन्यन्ते तृणाय रिपवश्च तम् ॥ ३१ ॥

शत्रु यम के समान तीक्ष्णदण्ड वाले राजा के वश में हो जाते हैं और वे ही (शत्रु) सब कुछ सहने वाले (अत्यन्त दयालु) राजा को तिनके के समान (अकिञ्चित्कर) समझते हैं ॥ ३१ ॥

न जातु शमनं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसाम् ।
वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३२ ॥

जिस पुरुष का तेज तेजस्वि पुरुषों के तेज को शान्त (दबा) नहीं करता, उस व्यर्थ उत्पन्न हुए (केवल) माता के यौवन का विनाश करने वाले पुरुष से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं ॥ ३२ ॥

या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी वैरिशोणितकुङ्कुमैः ।
कान्ताऽपि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३३ ॥

जो लक्ष्मी, शत्रुओं के रुधिररूपी केसर से चिह्नित (जिसके अङ्ग लिप्त नहीं होते) नहीं होती वह मनोहर होने पर भी वीर पुरुषों के मन को आनन्दित नहीं करती ॥ ३३ ॥

रिपुरक्तेन संसिक्ता तत्स्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीविते ॥ ३४ ॥

जिस राजा की भूमि शत्रुओं के रुधिर तथा उनकी स्त्रियों के आंसुओं (पति-पुत्रादि के मरने से शोक से उत्पन्न) से नहीं सींची जाती उसके जीवित रहने में क्या प्रशंसा है ? कुछ भी नहीं, उसका मरना ही अच्छा है ॥ ३४ ॥

एवं संजीवी विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वाऽनुजीविनमपृच्छत्—'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय ।' सोऽब्रवीत्—'देव ! दुष्टः स बलाधिको निर्मर्यादश्च । तत्तेन सह न सन्धिर्न विग्रहो युक्तः । केवलं यानमर्हं स्यात् । उक्तं च—

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।
न सन्धिर्विग्रहो नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार संजीवी ने 'विग्रह' की सलाह दी । तब यह सुन, (मेघवर्ण ने) अनुजीवी से कहा—'भद्र ! तुम भी अपना विचार प्रकट करो' । उसने कहा-'देव ! वह (शत्रु) दुष्ट, बलवान् और शिष्टाचार रहित है । इसलिये उसके साथ सन्धि और विग्रह दोनों ही उचित नहीं है । केवल 'यान' ही उपयोगी हो सकता है । कहा भी है—

बल में अधिक, दुष्ट और शिष्टाचार रहित (जो सन्धि आदि की उपेक्षा करता है) शत्रु के साथ सन्धि और युद्ध नहीं करना चाहिए (उसके साथ) यान के अतिरिक्त और कुछ उचित नहीं है । (बलवान् होने के कारण युद्ध ठीक नहीं तथा दुष्ट और मर्यादा रहित होने के कारण सन्धि उचित नहीं, सन्धि करने पर भी वह उसकी परवाह नहीं करता ।) ॥ ३५ ॥

द्विधाकारं भवेद्यानं भये प्राणार्थरक्षणम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३६ ॥

यान दो प्रकार का होता है; एक (प्रथम) डर के समय प्राण और धन (कोष) की रक्षा करने वाला और दूसरा विजयार्थी राजा का शत्रु पर आक्रमण कहा जाता है। प्राणसंकट के समय भाग जाना प्रथम यान कहाता है तथा अपने विजय की निश्चित संभावना होने पर शत्रु पर आक्रमण करना दूसरे प्रकार का यान है ॥ ३६ ॥

कार्तिके वाऽथ चैत्रे वा विजिगीषोः प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ॥ ३७ ॥

(शत्रु की अपेक्षा) अधिक बलशाली विजयार्थी राजा के लिये कार्तिक[1] और चैत्र मास में, शत्रु-देश में जाना उचित कहा गया है, अन्य समय में नहीं ॥३७॥

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिताः ।
व्यसने वर्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ॥ ३८ ॥

किसी विपत्ति में फंसे हुए तथा उसकी निर्बलता की दशा में शत्रु पर आक्रमण करने के लिये सभी समय ठीक कहे गये हैं[2] ॥ ३८ ॥

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलैः ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ॥ ३९ ॥

महाबली और विश्वस्त शूर पुरुषों के द्वारा अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध करके प्रथम से ही अपने गुप्तचरों से परिपूर्ण शत्रु-देश में जावे ॥ ३९ ॥

---

१. कार्तिक तथा चैत्र मास यात्रा के लिये इसलिये पसन्द किये गये हैं कि इन महीनो में खेतों में अन्न नहीं रहता जिससे उसके नाश का भय हो तथा इन मासों में वर्षा का भी भय नहीं होता, रास्ते साफ हो जाते हैं। साथ ही गरमी व सरदी का भी आधिक्य नहीं होता जिससे योधाओं को कष्ट होने की संभावना हो। अन्य नीतिज्ञोंने मार्गशीर्ष व फाल्गुन मास भी 'यान' के लिये उपयुक्त माने हैं।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् । (मनुः—७, १८२)

२. तथा च मनुः—

अन्येष्वपि तु कालेषु, यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् ।
तदा यायाद्विगृह्यैव, व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ (मनुः ७।१८३)

अज्ञातवीवधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः ।
परराष्ट्रं न भूयः स स्वराष्ट्रमपि गच्छति ॥ ४० ॥

जो राजा (शत्रुदेश के) वीवध (धान्यादि की प्राप्ति) आसार (मित्रबल) जल और अन्न को विना जाने हुए (विजय की इच्छा से) शत्रु-देश में जाता है, वह फिर लौट कर अपने राज्य में नहीं पहुँच पाता[1] ॥ ४० ॥

तत्ते युक्तं कर्तुमपसरणम् । अन्यच्च—

तन्न युक्तं प्रभो ! कर्तुं द्वितीयं यानमेव च ।
न विग्रहो न सन्धानं बलिना तेन पापिना ॥ ४१ ॥

इसलिये आपको यहां से भाग जाना ही उचित है । और भी—

हे प्रभो ! उस बलवान् और दुष्ट शत्रु के साथ, न तो दूसरे प्रकार का यान, न युद्ध और न सन्धि ही करना उचित है ॥ ४१ ॥

अपरं कारणापेक्षयाऽपसरणं क्रियते बुधैः । उक्तं च—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं,
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः ।
हृदयनिहितभावा गूढमन्त्रप्रचाराः,
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥ ४२ ॥

दूसरी बात यह है कि—कारणवश विद्वान् पुरुष भी अपसरण (यान, पलायन) करते हैं । कहा भी है—

भेंड (युद्ध में) जो पीछे हटता है वह प्रहार करने के लिये करता है, सिंह भी गुस्से से (अपने शिकार पर) कूदते समय अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है । बुद्धिमान् पुरुष हृदय में अपने भावों को छिपाये हुए तथा अपने विचार और चेष्टाओं को प्रकाशित न करते हुए (मान-अपमान आदि की) कुछ भी परवाह न कर समय की प्रतीक्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः ।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन् स मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

जो राजा शत्रु को बलवान् समझ कर देश को छोड़ देता है वह जीवित

१. 'बलोत्कटेन' आदि चार श्लोकों में दूसरे प्रकार के यान का वर्णन है ।

रह कर फिर भी युधिष्ठिर के समान भूमि (राज्य) को प्राप्त कर लेता है॥ ४३ ॥

युध्यतेऽहंकृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा।
स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४४ ॥

जो दुर्बल राजा अहङ्कार के वशीभूत हो बलवान् के साथ युद्ध करता है वह उसकी इच्छा को पूर्ण करता है और अपने कुल का नाश करता है ॥ ४४ ॥

तद्बलवताभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च। एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य। अथ तस्य वचनमाकर्ण्य प्रजीविनमाह—'भद्र! त्वमप्यात्मनोऽभिप्रायं वद।' सोऽब्रवीत्—देव! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीण्यपि न प्रतिभान्ति। विशेषतश्चासनं प्रतिभाति। उक्तं च—

नक्रः[1] स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥ ४५॥

चूँकि हमारे ऊपर एक बलवान् शत्रु ने आक्रमण किया हुआ है अतः यह अपसरण का समय है न तो सन्धि और न विग्रह का ही समय है इस प्रकार अनुजीवि की राय अपसरण के विषय में रही।

उसके वचन को सुनकर प्रजीवी से कहा—'भद्र! तुम भी अपनी राय प्रकाशित करो।' उसने कहा—देव! मुझे तो सन्धि, विग्रह और यान तीनों ही पसन्द नहीं हैं मुझे तो आसन अच्छा (उचित) मालूम होता है। कहा भी है—

नाका अपने स्थान पर रह कर बड़े हाथी को भी खींच लेता है, परन्तु अपने स्थान से हटने पर कुत्ते से भी पराजित हो जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान्।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४६ ॥

बलवान् शत्रु के द्वारा आक्रमण किये जाने पर राजा को चाहिए कि (अपने बचाव के लिये) यत्न करता हुआ किले में बैठ जावे और वहीं रहकर अपनी रक्षा के लिये मित्रों को बुलावे ॥ ४६ ॥

---

१. यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि—यद्यपि प्रत्येक वक्ता अपने के पूर्व वक्ता के प्रदर्शित नीतिमार्ग का निराकरण करता है अतः प्रजीवि को सन्ध्यादि तीनों ही नीतिमार्ग में दोष प्रकट करने चाहिए तथापि यान के समर्थन में सन्धि और विग्रह में दोष दिखा दिये गये हैं अतः केवल यान मे दोष दिखाये गये हैं।

यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसंत्रस्तमानसः ।
स्वस्थानं हि त्यजेत्तत्र न तु भूयो विशेच्च सः ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य शत्रु का आगमन सुनकर भयभीत हो अपना स्थान छोड़ देता है वह उस स्थान में प्रविष्ट नहीं हो सकता ॥ ४७ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ४८ ॥

दांत रहित सर्प और मदशून्य हाथी के समान स्थान से भ्रष्ट राजा को सब प्राणी वश में कर लेते हैं ॥ ४८ ॥

निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः ।
शक्तानामपि शत्रूणां तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४९ ॥

अपने स्थान में स्थित अकेला भी पुरुष बलवान् १०० शत्रुओं के साथ युद्ध कर सकता है । इसलिये स्थान न छोड़ना चाहिए ॥ ४९ ॥

तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा सुभटासारसंयुतम्[1] ।
प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलंकृतम् ॥ ५० ॥
तिष्ठेन्मध्यगतो[2] नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः ।
जीवन्संप्राप्स्यति[3] राज्यं, मृतो वा स्वर्गमेष्यति[4] ॥५१॥(युग्मम्[5])

इसलिये, किले को खूब मजबूत करके, सिपाही और रसद (सामग्री) से भरकर, परकोटा तथा खाई से वेष्टित कर, शस्त्र आदि से सुसज्जित करके हमेशा युद्ध के लिये तयार हो किले में रहे । क्योंकि यदि जीवित (विजय प्राप्त करके) रहेगा तो राज्य पावेगा और यदि मर गया तो स्वर्ग को जायगा ॥ ५०–५१ ॥

अन्यच्च—

बलिनाऽपि न बाँध्यन्ते[6] लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।
विपक्षेणाँपि[7] मरुता यथैकस्थानवीरुधः ॥ ५२ ॥

और भी एक स्थान में रहने वाले दुर्बल मनुष्य भी बलवान् शत्रु के द्वारा भी पराजित नहीं किये जा सकते जैसे कि एक जगह पर उगी हुई लताएँ तेज वायु से भी नहीं उखाड़ी जा सकतीं ॥ ५२ ॥

---

१. वांवधासा० २. तिष्ठ ३. सि ४. सि ५. द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् । ६. बध्यन्ते, साध्यन्ते । ७. प्रभञ्जनविपक्षेण यथैकस्था महीरुहाः ।

महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य इव वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ॥ ५३ ॥

चूँकि विशाल, मजबूत और दृढमूल भी वृक्ष वायु से जबर्दस्ती उखाड़ दिया जाता है । इसलिये मनुष्य को अकेला न रहना चाहिए ॥ ५३ ॥

अथ ये संहता वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते न रौद्रानिलेनापि हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ॥ ५४ ॥

अथ च, जो वृक्ष आपस में मिले हुए और सब तरफ से मजबूत जड़वाले होते हैं वे तेज हवा से भी नहीं उखाड़े जा सकते ॥ ५४ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं शौर्येणापि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार पराक्रमी भी अकेले मनुष्य को शत्रु लोग (मारने के योग्य) समझ लेते हैं और बाद में मार भी डालते हैं ॥ ५५ ॥

एवं प्रजीविमन्त्रः । इदमासनसंज्ञकम् । एतत्समाकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह—'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद ।' सोऽब्रवीत्–'देव ! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तत्तस्यानुष्ठानं कार्यम् ।' उक्तं च—

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ५६ ॥

इस प्रकार इस आसनसंज्ञक प्रजीवी के मन्त्र को सुनकर चिरञ्जीवी से कहा—'हे भाद्र ! तुम भी अपने अभिप्राय को कहो ।' उसने कहा—'हे देव ! सन्ध्यादि ६ में से मुझे 'संश्रय' (दूसरे का सहारा) अच्छा लगता है । अतः उसी के लिये कार्य करना चाहिये ।' क्योंकि कहा भी है:—

प्रतापी और शक्तिशाली भी मनुष्य अकेला क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं। वायुशून्य स्थान में जलती हुई भी अग्नि बुझ जाती है ॥ ५६ ॥

सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ५७ ॥

---

१. सुमन्देनापि वातेन शक्यो धूनयितुं यतः ।

२. अयं श्लोकः क्वचिन्न दृश्यते पूर्वोत्तरश्लोकसाङ्गत्यायास्याभाव एव वरम् ।

३. न ते शीघ्रेण वातेन ।

पुरुषों का परस्पर मिलकर रहना उत्तम है। विशेषकर अपने सजातीयों के साथ रहना (श्रेष्ठ है)। चावल (तुषरहित धान) तुष से रहित होने पर नहीं उगते॥

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित्समर्थः समाश्रयणीयः, यो विपत्प्रतिकारं करोति। यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र यास्यसि; तत्कोऽपि ते वाङ्मात्रेणाऽपि सहायत्वं न करिष्यति। उक्तं च यतः—

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥ ५८॥

इसलिये यहां रहकर ही तुम्हें किसी शक्तिशाली पुरुष का आश्रय करना चाहिए जो (तुम्हारी) विपत्ति का कुछ उपाय कर सके। यदि तुम अपना स्थान छोड़ कर दूसरी जगह जाओगे तो कोई भी वाणीमात्र से भी तुम्हारी सहायता नहीं करेगा। कहा भी है—

वनों को जलाते हुए अग्नि की वायु भी सहायता करता है, परन्तु वही वायु दीपक को बुझा देता है, दुर्बल मनुष्य में कौन सुहृद्भाव रखता है ?॥ ५८॥

अथवा नैतदेकान्तं यद्बलिनमेकं समाश्रयेत्। लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति। उक्तं च यतः—

सङ्घातवान्यथा वेणुर्निबिडैर्वेणुभिर्वृतः।
न शक्येत समुच्छेत्तुं दुर्बलोऽपि तथा नृपः॥ ५९॥

किञ्च–यह आवश्यक नहीं कि किसी बलवान् एक ही पुरुष का आश्रय किया जाय किन्तु (बहुत से) छोटे पुरुषों का भी संश्रय रक्षा करने वाला होता है। कहा भी है—

जिस प्रकार घने बांसों से घिरा हुआ (छोटा भी) बांस काटा नहीं जा सकता इसी तरह दुर्बल भी राजा सहायता पाने पर नष्ट नहीं किया जा सकता॥ ५९॥

यदि पुनरुत्तमसंश्रयो भवति तत्किमुच्यते ? उक्तञ्च—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥ ६०॥

यदि उत्तम पुरुष का आश्रय मिले तब तो कहना ही क्या है ? कहा भी है—

बड़े पुरुष का संसर्ग किसकी उन्नति का कारण नहीं होता ? (किसको उन्नत नहीं करता) कमल के पत्र पर स्थित पानी (जलबिन्दु) मोतियों की शोभा धारण करता है॥ ६०॥

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित्प्रतीकारो भवति इति मेऽभिप्रायः। एवं चिरञ्जीविमन्त्रः।

अथैवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिरन्तनं पितृसचिवं दीर्घायुषं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच-'तात! यदेते मया पृष्टाः सचिवास्तावदत्रस्थितस्यापि तव तत्परीक्षार्थम्, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं तन्मे समादिशसि। तद्युक्तं भवति तत्समादेश्यम्। स आह-वत्स! सर्वैरप्येतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः। तदुपयुज्यते स्वकालोचितं सर्वमेव। परमेष द्वैधीभावस्य कालः। उक्तं च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च।
द्वैधीभावं समाश्रित्य पापशत्रौब लीयसि॥ ६१॥

इस प्रकार संश्रय के विना कोई उपाय नहीं है। इसीलिये संश्रय करना चाहिए। यही मेरी राय है। यह चिरंजीवी का विचार है।

उनके ऐसा कहने पर राजा मेघवर्ण ने पुराने, पिता के मन्त्री, बृद्ध सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को जानने वाले स्थिरजीवि नामक मन्त्री को प्रणाम कर कहा 'हे तात! आपके यहां उपस्थित होते हुए भी इन मन्त्रियों से पूछने का एकमात्र कारण है कि आप उनके (ज्ञान की) परीक्षा ले सकें (अथवा आप प्रकृत विषय पर अच्छी तरह विचार कर सकें) जिससे कि आप सब कुछ सुन कर उचित कर्तव्य की आज्ञा दें। इसलिये जो उचित हो वह आज्ञा दीजिये।' उसने कहा-'हे वत्स! इन मन्त्रियों ने नीतिशास्त्र के आधार पर ही कहा है जो अपने अपने समय पर सभी उपयुक्त हो सकता है। परन्तु यह द्वैधीभाव का समय है। कहा भी है—

दुष्ट शत्रु के बलवान् होने पर (नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि) वह उसका विश्वास न करता हुआ, द्वैधीभाव (धोखेवाजी से शत्रु को सावधान न होने देने के लिये उसके साथ बाहर से मित्रता का व्यवहार करके अन्त में उसे नष्ट कर देना) के द्वारा अर्थात् कभी सन्धि और कभी युद्ध का अभिनय करता हुआ रहे॥ ६१॥

तच्छत्रुं विश्वास्याविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः सुखेनोच्छिद्यते रिपुः। उक्तं च—

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्धयन्त्यरिमेकदा।
गुडेन वर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते॥ ६२॥

स्वयं शत्रु का विश्वास न कर परन्तु उसको अपने ऊपर विश्वास दिलाकर और (नयी नयी) आशाएँ दिखाते हुए (बुद्धिमान्) शत्रु को आसानी से नष्ट कर देते हैं। कहा भी है—

नीतिनिपुण पुरुष विनाश के योग्य भी शत्रु को एक बार बढ़ा देते हैं। गुड़ के द्वारा बढ़ाया हुआ कफ (खांसी) आसानी से नष्ट कर दिया जाता है ॥६२॥

तथा च—

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।
यो भवेदेकभावोऽत्र न स जीवति मानवः ॥ ६३ ॥

जो मनुष्य इस संसार में स्त्रियों, शत्रु, दुष्टमित्र और खास कर वेश्याओं के साथ निष्कपट व्यवहार करता है वह जीवित नहीं रहता ॥ ६३ ॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।
एकभावेन कर्तव्यं शेषं द्वैधसमाश्रितम् ॥ ६४ ॥

देवता, ब्राह्मण, अपना और गुरु का कार्य निष्कपटभाव से करना चाहिए, शेष (मनुष्यों के) कार्य द्वैधीभाव से करने चाहिए ॥ ६४ ॥

एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम् ।
स्त्रीलुब्धां न लोकानां विशेषेण महीभृताम् ॥ ६५ ॥

शुद्धान्तःकरण यति लोगों के साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, स्त्रीपरायण पुरुष और विशेषकर राजाओं के साथ एक भाव (शुद्ध भाव) से व्यवहार न करना चाहिए ॥ ६५ ॥

तद् द्वैधीभावं संश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति, लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि । अपरं-यदि किञ्चिच्छिद्रं तस्य पश्यसि, तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि । मेघवर्ण आह–'तात ! मया सोऽविदितसंश्रयः । तत्कथं तस्य छिद्रं ज्ञास्यामि ?' स्थिरजीव्याह–वत्स ! न केवलं स्थानं, छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणधिभिः । उक्तं च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ६६ ॥

इसलिये द्वैधीभाव को स्वीकार करने से तुम अपने स्थान पर भी बने रहोगे (तुमको अपना स्थान छोड़ने की आवश्यकता न होगी) और शत्रुको लुभाकर भगा

भी सकोगे। और, यदि उसकी कोई निर्बलता तुम्हें ज्ञात होगी तो तुम जाकर उसका नाश कर सकोगे। मेघवर्ण ने कहा—'हे तात! मुझे तो उसके स्थान का भी पता नहीं। फिर मैं उसकी कमजोरी कैसे जान सकूंगा?' स्थिरजीवी ने कहा—वत्स! मैं गुप्तचरों द्वारा केवल उसका स्थान ही नहीं प्रत्युत उसके छिद्र भी प्रकाशित करूंगा। कहा भी है:—

गाय (आदि पशु) गन्ध-घ्राण-के द्वारा वस्तुओं का पता लगा लेते हैं। ब्राह्मण वेदों-शास्त्रों-के द्वारा, राजा चरों से और साधारण अन्य लोग नेत्रों से देखते हैं॥ ६६॥

उक्तं चात्र विषये—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात्॥ ६७॥

इस विषय में कहा भी है:—

जो राजा गुप्तचरों द्वारा अपने पक्षके और विशेषकर शत्रुपक्ष के तीर्थों (राजपुरुषों) को जानता है वह दुर्गति (संकट) को प्राप्त नहीं होता॥ ६७॥

मेघवर्ण आह—'तात! कानि तीर्थान्युच्यन्ते? कतिसंख्यानि च? कीदृशा गुप्तचराः? तत्सर्वं निवेद्यताम्' इति। स आह—अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैर्ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्तं च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

कच्चिदष्टदशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ ६८॥

मेघवर्ण बोला—'हे तात! तीर्थ कौन कहलाते हैं? और वे कितने हैं? गुप्तचर कैसे होते हैं? यह सब बताइये।' उसने कहा—इस विषय में भगवान् नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि शत्रुपक्ष में १८ और अपने पक्ष में १५ तीर्थ होते हैं। तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा उनको जानना चाहिए। उनके जानने से अपना और शत्रु दोनों के पक्ष वश में हो जाते हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है:—

क्या तुम गुप्तवेशधारी तीन-तीन चरों के द्वारा शत्रुओं के १८ और अपने पक्ष के १५ तीर्थों को जानते हो। (मैं समझता हूँ कि तुम जानते हो।)॥ ६८॥

तीर्थशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते। तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तत्स्वामिनोऽभिघाताय, यदि प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति। तद्यथा—मन्त्री, पुरोहितः, सेनापतिः, युवराजः, दौवारिकः, अन्तर्वासिकः, प्रशासकः, समाहर्तृ-सन्निधातृ-प्रदेष्टृ-ज्ञापकाः, साधनाध्यक्षः, गजाध्यक्षः, कोशाध्यक्षः, दुर्गपाल-करपाल-सीमापाल-प्रोत्कटभृत्याः। एषां भेदेन द्रागरिपुः साध्यते। स्वपक्षे च-देवी, जननी, कञ्चुकी, मालिकः, शय्यापालकः, स्पशाध्यक्षः, सांवत्सरिकः, भिषग्, जलवाहकः, ताम्बूलवाहकः, आचार्यः, अङ्गरक्षकः, स्थानचिन्तकः, छत्रधरः, विलासिनी। एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः। तथा च—

वैद्यसांवत्सराचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः।
तथाऽऽहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु॥ ६९॥

तीर्थ शब्द से राजकार्य में नियुक्त पुरुष अभिप्रेत है। यदि वह तीर्थ (राजपुरुष) शत्रुपक्ष में मिला हुआ विश्वासघाती हो तो स्वामी (राजा) के विनाश का कारण होता है और यदि वही श्रेष्ठ हो तो उन्नति का कारण होता है। वे तीर्थ ये हैं—(१) मन्त्री (२) पुरोहित (३) सेनापति (४) युवराज (५) द्वाररक्षक (६) अन्तःपुररक्षक (७) कलेक्टर (८) मालगुजारी एकत्र करने वाला (९) पुरुषों का परिचय कराने वाला (१०) न्यायाध्यक्ष (जज) (११) प्रजा की सूचनाओं अथवा आवेदनपत्रों को राजा को बताने वाला (पेशकार) (१२) सेनाका मुख्य अधिपति (१३) हस्ति-विभाग का अध्यक्ष (१४) खजाञ्ची (१५) किले का अधिकारी (१६) टैक्स वसूल करने वाला (पाठान्तर में जेलर, कैदखाने का मालिक) (१७) सीमाप्रदेश की रक्षा करने वाला (१८) प्रिय भृत्य। इनको अपनी ओर मिला लेने से शत्रु शीघ्र ही वश में हो जाता है। अपने पक्ष में (१) राजपत्नी (२) राजमाता (३) अन्तःपुर में रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण (४) माली (५) शय्यारक्षक (६) गुप्तचरों का अध्यक्ष (७) ज्योतिषी (८) वैद्य (९) जल लाने वाला (१०) पानदान ले चलने वाला (११) आचार्य (१२) अङ्गरक्षक (१३) निवासाध्यक्ष (राजमहल का रक्षक) (१४) छत्रधर (१५) वेश्या। इनकी शत्रुता के द्वारा अपने वर्ग का विनाश होता है।

अपने पक्ष में वैद्य, ज्योतिषी और गुरु को गुप्तचर कार्य में नियुक्त करना

चाहिए। तथा सपेरे और उन्मत्त (पागल) का वेश धारण करने वाले पुरुष शत्रुओं के सब हालात को जानते हैं। (अतः शत्रुपक्ष में इन्हें नियुक्त करना चाहिए। वैद्य आदि सब जगह आसानी से जा सकते हैं। इसलिये इनको गुप्तचर बनाना कहा गया है। इसी प्रकार सपेरे आदि भी बिना किसी सन्देह के शत्रुपक्ष में जा सकते हैं।) ॥ ६९ ॥

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ ७० ॥

जिस प्रकार कार्यचतुर कारीगर लोग घाटों में उतर कर (प्रवेश कर) गहरे जल की भी थाह पा लेते हैं इसी तरह कार्य को समझने वाले गुप्तचर मन्त्री आदि १८ तीर्थों में अपना स्थान करके-उनमें हिलमिल कर-शत्रु के कार्य को जानें॥

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्यात्रान्तरे मेघवर्ण आह—'तात ! अथ किंनिमित्तमेवंविधं प्राणान्तिकं सदैव वायसोलूकानां वैरम् ?' स आह—'वत्स !

इस तरह के मन्त्री के बचन सुनकर बीच में ही मेघवर्ण बोला—'हे तात ! कौवे और उल्लुओं का यह प्राण लेने वाला वैर किस कारण से हुआ ?' वह बोला-वत्स !

कदाचिद्धंस-शुक-बक-कोकिल-चातक-उलूक-मयूर-कपोत-पारावत-विष्किरप्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुमारब्धाः। 'अहो अस्माकं तावद्वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तो न कामपि चिन्तामस्माकं करोति। तत्किं तेन वृथास्वामिना ? यो लुब्धकपाशैर्नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते। उक्तं च—

यो न रक्षति वित्रस्तान्पीड्यमानान्परैः सदा।
जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७१ ॥

किसी समय हंस, तोता, बगुला, कोयल, पपीहा, उल्लू, मोर, कबूतर, परेवा और कुक्कुट आदि सब पक्षी इकट्ठे होकर शोकाकुल चित्त से परस्पर सलाह करने लगे—'हमारे राजा वैनतेय हैं, वे नारायण के भक्त हैं, परन्तु हमारी कुछ भी खबर नहीं लेते। इसलिये उस नाममात्र के स्वामी से क्या लाभ ? जो शिकारियों के जाल में फँसते हुए हम लोग की रक्षा नहीं करते। कहा भी है—

जो राजा शत्रुओं से सताये जाते हुए अतएव सदा ही भयभीत रहने वाले

प्राणियों की—अपनी प्रजा की—रक्षा नहीं करता वह निस्सन्देह राजा के रूप में यम ही है ॥ ७१ ॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७२ ॥

यदि अच्छा मार्गदर्शक—सन्मार्ग में चलाने वाला—राजा न हो तब प्रजाएँ इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नाविक के बिना समुद्र में नौका डूब जाती है ॥

षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७३ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ७४ ॥ (युग्मम्)

समुद्र में टूटी हुई नाव के समान मनुष्य इन ६ पुरुषों को छोड़ देवे। (१) अच्छी तरह न पढ़ाने वाले आचार्य (२) स्वाध्याय न करने वाले पुरोहित (३) रक्षा न करने वाले राजा (४) कटुभाषिणी पत्नी (५) ग्राम-पसन्द ग्वाले और (६) जंगल चाहने वाले नाई को ॥ ७३—७४ ॥

तत्, संचिन्त्यान्यः कश्चिद्राजा विहङ्गमानां क्रियतामि'ति । अथ तैर्भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहितम्—'यदेष उलूको राजाऽस्माकं भविष्यति । तदानीयन्तां नृपाभिषेकसम्बधिनः सम्भाराः' इति । अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासङ्घाते, प्रदत्ते सिंहासने, वर्तिते सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे[1] धरित्रीमण्डले, प्रस्तारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु हेमकुम्भेषु दीपेषु वाद्येषु च, सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु बन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु समुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतिजने, आनीतायामग्रमहिष्यां कृकालिकायाम्, उलूकोऽभिषेकार्थं यावत्सिंहासन उपविशति, तावत्कुतोऽपि वायसः समायातः । सोऽचिन्तयत्—अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च ? अथ ते पक्षिणस्तं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—पक्षिणां मध्ये वायसश्चतुरः श्रूयते । उक्तं च—

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणाञ्चैव वायसः ।
दंष्ट्रिणाञ्च शृगालस्तु श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७५ ॥

---

१. 'सप्तद्वीपवतीधरित्रीमण्डले' इति पाठान्तरम् ।

इसलिये विचार कर किसी दूसरे को पक्षियों का राजा बनाना चाहिए। अनन्तर उलूक को सुरूपवान् समझ उन सब ने कहा कि—'यह उल्लू हमारा राजा होगा। इसलिये राज्याभिषेकसंबन्धी सब वस्तुएँ लानी चाहिए।' तत्पश्चात् नाना पवित्र नदियों के जल लाने, १०८ जड़ी बूटियों के संग्रह करने, सिंहासन रखने, पृथ्वीमण्डल का एक ऐसा चित्र—जिसमें कि सात द्वीप, सात समुद्र और सात पर्वत चित्रित किये गये हों—बनाने' व्याघ्रचर्म बिछाने, (जल से) सुवर्णकलशों, (तेल से) दीपकों और (मुखवायु से) वाद्यों के भरने, दर्पण आदि माङ्गलिक वस्तुओं के तयार करने, उत्तम चारणों के स्तुति पाठ करने, मिल कर-एक स्वर से ब्राह्मणों के वेदपाठ करने, युवतियों के गीत गाने, कृकालिका नामक प्रधान रानी के लाये जाने पर जिस समय उलूक राज्यभिषेक के लिये सिंहासन पर बैठने लगा उसी समय कहीं से कौवा आ गया। वह सोचने लगा—ये सब पक्षी क्यों एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा है? उन पक्षियों ने उसको देख कर आपस में कहा—पक्षियों में कौवा चतुर सुना जाता है। कहा भी है—

मनुष्यों में नाई, पक्षियों में काक, दाढ़ वालों में सियार और तपस्वियों में श्वेताम्बर (जैन) चतुर सुना जाता है ॥ ७५ ॥

तदस्यापि वचनं ग्राह्यम् । उक्तं च—

बहुधा बहुभिः सार्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः ।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ७६ ॥

इसलिये इसका भी वचन सुनना चाहिए। कहा भी है:—

विद्वानों से सोचे हुए, अनेक मनुष्यों के साथ मिल कर तरह-तरह से विचारे हुए और अच्छे प्रकार निश्चित किये हुए नीति-प्रयोग किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं होते—निष्फल नहीं जाते ॥ ७६ ॥

अथ वायसः समेत्य तानाह—अहो! किं महाजनसमागमोऽयं, परममहोत्सवश्च। ते प्रोचुः-भोः! नास्ति कश्चिद्विहङ्गमानां राजा, तदस्योलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभिः। तत्त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समागतोऽसि। अथाऽसौ काको विहस्याऽऽह-अहो! न युक्तमेतत्, यन्मयूर-हंस-कोकिल-चक्रवाक-शुक-कारण्डव-हारीत-

सारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्यास्य करालवक्त्रस्याभिषेकः क्रियते ! तन्नैतन्मम मतम्। यतः—

वक्रनासं सुजिह्माक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम्।
अक्रुद्धस्येदृशं वक्त्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम्॥ ७७॥

तब कौवा उनके पास जाकर बोला—इतने अधिक मनुष्य क्यों एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा हो रहा है? उन्होंने कहा—भद्र! पक्षियों का कोई राजा नहीं है। इसलिये सब पक्षियों ने इस उल्लू को पक्षियों का राजा निश्चय किया है। तुम भी अपनी राय दो; क्योंकि समय पर आ गये हो। तब कौवे ने हँस कर कहा—यह ठीक नहीं है कि मोर, हंस, कोयल, चकवा, शुक, जलमुर्गा, हरिल, सारस आदि प्राधन प्रधान पक्षियों के रहते हुए इस दिवान्ध भयानक मुख वाले उल्लू को राज्याभिषेक करते हो! इसलिये मेरी यह राय नहीं है। क्योंकि:—

बिना क्रोध किये हुए भी जब इसका मुख ऐसा विकृत है कि नाक टेढी आँखें कोने में घुसी हुई हैं, मुख से कठोरता प्रतीत होती है तथा देखने में भी भद्दा मालूम पड़ता है, तब जब इसे क्रोध आता होगा तो कैसा होता होगा॥ ७७॥

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम्।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का नः सिद्धिर्भविष्यति॥ ७८॥

स्वभाव से ही भयङ्कर, अत्यन्त क्रोधी, कठोर और अप्रियभाषी इस उल्लू को राजा बनाने से हमें क्या लाभ होगा? कुछ भी नहीं॥ ७८॥

अपरं, वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्धः क्रियते राजा? तद्यद्यपि गुणवान् भवति तथाऽप्येकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूपः प्रशस्यते।

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः।
युगान्त इव भास्वन्तो[1] बहवोऽत्र विपत्तये॥ ७९॥

और भी, जब कि गरुड राजा मौजूद ही हैं तब इस दिवान्ध को राजा क्यों बनाते हो? क्योंकि कोई गुणवान् ही क्यों न हो परन्तु एक स्वामी के रहते हुए दूसरा राजा अच्छा नहीं समझा जाता।

एक ही प्रतापी राजा संसार का कल्याणकारी होता है। प्रलयकाल में अनेक सूर्यों के समान इस लोक में अनेक नृपति प्रजा के लिये विपत्ति के कारण होते हैं॥

---

१. कल्पान्ते सप्त सूर्याः प्रकाशन्ते भुवश्चातितरां तापयन्तीति विष्णुपुराणसंवादः, केचित् द्वादशादित्या उदयन्ते तदेति वर्णयन्ति।

तत्तस्य नाम्नाऽपि यूयं परेषामगम्या भविष्यथ। उक्तं च—

गुरूणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे।
दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ८० ॥

उस (गरुड़) के नाम से ही शत्रुओं से तुम लोग बचे रहोगे (शत्रुओं से अप्राप्य होगे)। कहा भी है:—

दुष्टों के सामने स्वामी का गौरवपूर्ण नाम लेने पर (चाहे वे बलवान् क्यों न हों) उसी समय अपनी रक्षा (कल्याण) होती है ॥ ८० ॥

तथा च—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८१ ॥

पक्षिण ऊचुः—'कथमेतत् ?' स आह—

जैसा कहा भी है:—

बड़े पुरुषों के नाम से ही बहुत लाभ होता है, चन्द्रमा के नाम से खरगोश सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ८१ ॥

पक्षियोंने पूछा—'यह कैसे है ?' वह (कौवा) कहता है—

कथा १

कस्मिंश्चिद्वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म। तत्र कदाचिन्महत्यनावृष्टिः सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत्। तया तडागह्रदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि। अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः—'देव ! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्राया अपरे मृताश्च। तदान्विष्यतां कश्चिज्जलाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थतां व्रजन्ति।' ततश्चिरं ध्यात्वा तेनाभिहितम्—'अस्ति महाह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगंगाजलेन सदैव पूर्णः। तत्तत्र गम्यताम् इति।' तथानुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्पद्भिः समासादितस्तैः स ह्रदः। तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्यास्तमनवेलायां निष्क्रान्ताः। तस्य च ह्रदस्य समन्ताच्छशकबिलानि असंख्यानि सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति। तान्यपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भिः परिभग्नानि। बहवः शशका भग्नपादशिरोग्रीवा विहिताः, केचिन्मृताः, केचिज्जीवशेषा जाताः। अथ गते तस्मिन्गजयूथे शशकाः सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासाः केचिद्भग्नपादाः, अन्ये जर्जरितकलेवरा रुधिप्लुताः, अन्ये

हतशिशवो बाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रुः—'अहो विनष्टा वयम्, नित्यमेवैतद्गजयूथमागमिष्यति यतो नान्यत्र जलमस्ति। तत्सर्वेषां नाशो भविष्यति।' उक्तं च—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः॥ ८२॥

किसी वन में चतुर्दन्त नाम का एक बड़ा भारी यूथाधिप हाथी रहता था। किसी समय उस वन में बहुत वर्षों तक बड़ी भारी अनावृष्टि–वर्षाभाव–हो गई। जिससे तडाग, ह्रद, तलैया और तालाव सूख गये। इसके बाद उन सब हाथियों ने उस गजराज से कहा–'हे राजन्! बच्चे प्यास से व्याकुल हो मरणासन्न हो रहे हैं और बहुत से तो मर भी गये। इसलिये कोई तालाब तलाश कीजिये जिसमें जल पीकर (सब) स्वस्थ हो जावें।' तब कुछ देर तक सोच कर उसने कहा–'एकान्त स्थान में जमीन में खुदा हुआ हमेशा पाताल गंगा से भरा हुआ एक तालाब है। इसलिये वहां चलना चाहिए।' ऐसा करने पर (चलने पर) पांच रात तक चलते-चलते वे लोग उस तालाव पर पहुँचे। वहाँ इच्छानुकूल जल में स्नान कर सायङ्काल के समय (तालाव से) निकले। उस तालाब के चारो ओर मुलायम जमीन में सैकड़ों खरगोशों के बिल थे। इधर उधर घूमते हुए उन हाथियों ने उन (खरगोश) के बिलों को कुचल डाला। बहुत से खरगोशों के पैर, सिर और गर्दन टूट गए, कुछ मर गये और कुछ अधमरे हो गये। हाथियों के उस झुण्ड के चले जाने पर घबड़ाये हुए वे खरगोश जिनके कि निवासस्थान हाथियों के पैर से कुचल गये थे और जिनमें से कुछ के पैर टूट गये थे, कुछ के शरीर क्षत–विक्षत (घायल) हो गये थे, कुछ रुधिर से भीगे हुए थे और कुछ रो रहे थे जिनके कि बच्चे मारे गये थे वे सब इकट्ठे होकर सलाह करने लगे—'हम तो मारे गये यह हाथियों का झुण्ड नित्य ही यहां आयेगा क्योंकि और जगह जल नहीं है। इसलिये सब का नाश हो जायगा।' कहा भी है:—

हाथी छूता हुआ, सांप सूंघता हुआ, राजा हंसता हुआ और दुष्ट पुरुष आदर भाव दिखाता हुआ मारता है॥ ८२॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः। तत्रैकः प्रोवाच—'गम्यतां देशत्यागेन; किमन्यत्।' उक्तं च मनुना व्यासेन च—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८३ ॥

इसलिये कोई उपाय सोचिये। उनमें से एक (खरगोश) ने बोला :—'देश त्यागकर चले चलो, और क्या उपाय है ।' मनु और व्यास ने भी कहा है :—

वंश की रक्षा के लिये एक मनुष्य को छोड़ दे, ग्राम के लिये कुल का परित्याग कर दे, देश के लिये ग्राम को छोड़ दे और अपने लिये पृथिवी का परित्याग कर दे ॥ ८३ ॥

क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ८४ ॥

अपनी रक्षा के लिये राजा को चाहिए कि बिना किसी प्रकार का सोच विचार करते हुए, सुखदायिनी, धान्य उत्पन्न करने वाली तथा पशुओं की वृद्धि करने वाली भी भूमि को छोड़ दे ॥ ८४ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ८५ ॥

विपत्ति के समय (आपत्ति दूर करने के लिये) धन संचय करना चाहिए । (संचित किये हुए) धनों के द्वारा (धन व्यय करके भी) अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए तथा पत्नी और धन दोनों के द्वारा अथवा दोनों की उपेक्षा करके भी अपनी रक्षा हमेशा करनी चाहिए ॥ ८५ ॥

ततश्चान्ये प्रोचुः—'भोः ! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते सहसा त्यक्तुम् । तत्क्रियतां तेषां कृते काचिद्विभीषिका । यत्कथमपि दैवान्न समायान्ति ।' उक्तं च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा ।
विषं भवतु मा वास्तु फटाटोपो भयङ्करः ॥ ८६ ॥

तब औरों ने कहा—'ऐ ! बाप दादाओं से (वंशपरम्परा से) आया हुआ स्थान अकस्मात् नहीं छोड़ा जा सकता । इसलिये उनको कोई भय दिखाना चाहिए । कदाचित् इस रीति से हमारे सौभाग्यवश वे यहां न आवें ।' कहा भी है :—

विषरहित भी सांप को अपना फण फैलाना चाहिए । विष हो वा न हो, फण फैलाना ही भयदायी होता है ॥ ८६ ॥

अथान्ये प्रोचुः—यद्येवं ततस्तेषां महद्विभीषिकास्थानमस्ति येन नागमिष्यन्ति । सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका । यतो विजयदत्तो नामाऽस्मत्स्वामी शशकश्चन्द्रमण्डले निवसति, यत्प्रेष्यतां कश्चिन्मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाशं यच्चन्द्रस्त्वामत्र ह्रद आगच्छन्तं निषेधयति, यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्वसति । एवमभिहिते श्रद्धेयवचनात्कदापि निवर्तते । अथान्ये प्रोचुः—यद्येवं, तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः । स च वचनरचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः । स तत्र प्रेष्यतामिति । उक्तं च—

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ ८७ ॥

तब, दूसरे लोग कहने लगे—अगर यह बात है तो उनके लिये एक बड़ा भारी भय का कारण हो सकता है जिससे वे लोग न आयेंगे । परन्तु वह एक चतुर दूत के अधीन है । (उसे एक चतुर दूत ही कर सकता है ।) जो विजयदत्त नामक हमारा स्वामी चन्द्रमा में रहता है, (उसी के आधार पर हमारा यह कपट उपाय अवलम्बित है) कोई बनावटी दूत गजाधिपति के पास भेजना चाहिए (और कहना चाहिए कि) चन्द्रमा तुम्हे इस तालाब में आने का निषेध करता है । क्योंकि हमारे (चन्द्रमा के) परिजन लोग इसके चारों ओर रहते हैं । ऐसा कहने पर कदाचित् श्रद्धेय (चन्द्रमा) के वचन होने के कारण वे लौट जावें (फिर यहां न आवें) । तब अन्यों ने कहा—यदि ऐसा ही है तो लम्बकर्ण नाम का एक खरगोश है। वह बोलने में निपुण और दूत-कार्य को जानने वाला है उसे वहां भेजना चाहिए । कहा भी है :—

सुन्दर, लोभरहित, भाषण-चतुर, अनेक विद्याओं में निपुण और दूसरों के मन की बात समझने वाला पुरुष राजा के दूत-कार्य के लिये अभीष्ट होता है (राजा ऐसे पुरुष को दूत बनाना पसन्द करता है) ॥ ८७ ॥

अन्यच्च—

यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत् ।
मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति ॥ ८८ ॥

और भी :—जो राजा मूर्ख, लोभी और विशेषकर मिथ्याभाषी पुरुष को दूत बना कर राज दरबार में भेजता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता । (क्योंकि मूर्ख

तो अपना अभिप्राय ठीक ठीक प्रकाशित ही नहीं कर सकता और लोभी पुरुष लोभवश शत्रु से मिलकर अपने स्वामी को हानि पहुँचा देते हैं) ॥ ८८ ॥

तदन्विष्यतां यद्यस्माद्व्यसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः। अथान्ये प्रोचुः— 'अहो युक्तमेतत्। नान्यः कश्चिदुपायोऽस्माकं जीवितस्य। तथैव क्रियताम्।'

अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च। तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्यागम्यं स्थलमारुह्य तं गजमुवाच—'भोः भोः दुष्ट! गज! किमेवं लीलया निःशंकयाऽत्र चन्द्र ह्रद आगच्छसि? तन्नागन्तव्यं निवर्त्यताम्' इति। तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह—'भोः! कस्त्वम्?' स आह—अहं लम्बकर्णो नाम शशकश्चन्द्रमण्डले वसामि। साम्प्रतं भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतः। जानत्येव भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः। दूतमुखा हि राजानः सर्व एव। उक्तं च—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि।
परुषाण्यपि जल्पन्तो वध्या दूता न भूभुजा ॥ ८९ ॥

यदि आप लोग इस संकट से छूटना चाहें तो कोई दूत तलाश करें। और लोग कहने लगे—'यह (उपाय) ठीक है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हमारे जीने का नहीं है। ऐसा ही करना चाहिए।'

अनन्तर लम्बकर्ण को यूथाधिपति के पास भेजना निश्चय किया गया और वह गया। तब लम्बकर्ण हाथी के रास्ते में (जिस मार्ग से हाथी तालाब पर आते थे) एक ऐसे (ऊँचे) स्थान पर–जहां हाथी नहीं पहुँच सकता था—चढ़कर उससे बोला—'अरे दुष्ट गज! क्यों तू इस चन्द्रह्रद पर इतनी असावधानी और निर्भयता से आता है। तुमको यहां नहीं आना चाहिए, लौट जाओ।' यह सुन कर आश्चर्य में पड़ कर वह बोला—तू कौन है? उसने कहा—मैं लम्बकर्ण नाम का खरगोश चन्द्रमण्डल में रहता हूँ। इस समय भगवान् चन्द्रमा ने मुझे तेरे पास दूत बनाकर भेजा है। आप यह जानते ही हैं कि—यथार्थवादी (जैसा उसके स्वामी ने कहा है वैसा ही कहने वाले) दूत को दोष नहीं देना चाहिए। क्योंकि सब ही राजा दूत–मुख होते हैं (दूत के द्वारा ही अपना सन्देश कहते हैं, यदि उनको ही मार दिया जाय तो एक का सन्देश दूसरे के पास पहुँच ही नहीं सकेगा)। कहा भी है:—

तलवार आदि शस्त्रों के उठाये जाने पर, बन्धुओं के मर जाने पर भी, कठोर वचन कहने वाले भी दूतों को न मारना चाहिए ॥ ८९ ॥

तच्छ्रुत्वा स आह—'भोः शशक ! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमसः सन्देशम्, येन सत्वरं क्रियते'। स आह—'भवतातीतदिवसे यूथेन सहागच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः; तत्किं न वेत्ति भवान्, यन्मम परिग्रहोऽयम्। तद्यदि जीवितेन ते प्रयोजनं तदा केनापि प्रयोजनेनाऽप्यत्र ह्रदे नागन्तव्यमि'ति सन्देशः। गज आह—'अथ क्व वर्तते भगवान् स्वामी चन्द्रः।' स आह—'अत्र ह्रदे साम्प्रतं शशकानां भवद्यूथमथितानां हतशेषाणां समाश्वासनाय समायातस्तिष्ठति। अहं पुनस्तवान्तिकं प्रेषितः।' गज आह—'यद्येवं तद्दर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्यान्यत्र गच्छामि।' शशक आह—'आगच्छ मया सहैकाकी येन दर्शयामि।' तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं ह्रदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बमदर्शयत्। आह च—'भोः! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थास्तिष्ठति तन्निभृतं प्रणम्य व्रजेति, नो चेत्समाधिभङ्गभयाद्भूयोऽपि प्रभूतं कोपं करिष्यति।' अथ गजोऽपि त्रस्तमनास्तं प्रणम्य पुनर्गतनाय प्रस्थितः। शशकाश्च तद्दिनादारभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि 'व्यपदेशेन महताम्' इति। अपि च—

क्षुद्रमलसं कापुरुषं व्यसनिनमकृतज्ञं जीवितकामः।
पृष्ठप्रलपनशीलं स्वामित्वेन नाभियोजयेत्॥ ६०॥

यह सुन कर वह (गज) बोला—'शशक! भगवान् चन्द्र का सन्देश कहिए जिससे कि शीघ्र ही उसका पालन किया जाय।' उसने कहा—(चन्द्रमा का यह संदेश है कि) कल अपने हाथियों के साथ आते हुए आपने बहुत से खरगोश मार डाले। क्या आप यह बात नहीं जानते कि ये लोग मेरे आश्रित हैं। अगर तुम जीना चाहो तो किसी भी काम से तुम इस तालाब पर न आना। गज ने कहा—'भगवान् स्वामी चन्द्र कहां है?' वह बोला—'इस समय वह आप के समूह से कुचले हुए परन्तु मरने से बचे हुए (खरगोशों को) तसल्ली देने के लिये इस तालाब में आए हुए है और मुझे तुम्हारे पास भेजा है' 'गज ने कहा—'अच्छा, मुझे स्वामी के दर्शन कराओ जिससे (उन्हें) प्रणाम कर अन्यत्र चला जाऊँ।' खरगोश ने कहा—'मेरे साथ अकेले आओ तब (तुम्हें) दर्शन करा दूं। तब, खरगोश रात्रि के समय उस हाथी को तालाब के किनारे ले गया और पानी

में पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिविम्ब (परछाईं) उसे दिखाया। और कहने लगा—'यह हमारे स्वामी जल में ध्यानमग्न स्थित हैं इसलिये चुपचाप प्रणाम करके जल्दी चले जाओ नहीं तो समाधि के भङ्ग होने से फिर भी अधिक क्रोध करेंगे।' तव हाथी भी भयभीत होकर उसे प्रणाम कर जाने के लिये रवाना हो गया। खरगोश भी उसी दिन से परिवार सहित अपने स्थानों में रहने लगे। इसलिये मैं कहता हूँ कि 'बड़ों का नाम लेने से' इत्यादि।

और भी:—

जीवित रहने की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि नीच स्वभाव, आलसी, कायर या निन्द्य, मृगया आदि व्यसनों में फंसे हुए, कृतघ्न, पीठ पीछे (परोक्ष में) निन्दा करने वाले पुरुष को कभी भी अपना स्वामी न वनाये ॥९०॥

तथा च—

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ९१ ॥

ते प्रोचुः—कथमेतत् ? स आह—

जैसे कहा भी है:—

पहिले किसी समय न्याय की तलाश करने वाले शश और कपिञ्जल दोनों ही नीच विचारक पाकर नष्ट हो गये ॥ ९१ ॥

उन (पक्षियों) ने पूछा—यह कैसे है ? वह (कौवा) बोला—

कथा २

कस्मिंश्चिद्वृक्षे पुराहमवसम्। तत्राधस्तात्कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः प्रतिवसति स्म। अथ सदैवास्तमनवेलायामागतयोर्द्वयोरनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो व्रजति। अथ कदाचित्कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैश्चटकैः सहान्यं पक्वशालिप्रायं देशङ्गतः। ततो यावन्निशासमयेऽपि नायातस्तावदहं सोद्वेगमनास्तद्वियोगदुःखितश्चिन्तितवान्—अहो किमद्य कपिञ्जलो नायातः ? किं केनापि पाशेन बद्धः ? आहोस्वित्केनापि पाशेन बद्धः ? सर्वथा यदि कुशली भवति तन्मां विना न तिष्ठति। एवं मे चिन्तयतो बहून्यहानि व्यतिक्रान्तानि।

ततश्च तत्र कोटरे कदाचिच्छीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायामागत्य प्रविष्टः । मयापि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः । अथान्यस्मिन्नहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः स्वाश्रयं स्मृत्वा भूयोऽप्यत्रैव समायातः । अथवा साध्विदमुच्यते—

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।
दारिद्र्येऽपि हि यादृक्स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे ॥ ९२ ॥

पहिले मैं किसी वृक्ष पर रहता था। वहीं पर नीचे के कोटर में कपिञ्जल नाम का एक पक्षी रहता था। सायङ्काल के समय सदा ही हम दोनों जब आते थे तब तरह-तरह की मधुर बातचीत करते, देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षियों के पुराणों में वर्णित चरित्र कहते और घूमने के समय देखे हुए विचित्र वस्तुओं का वर्णन करते थे। इस प्रकार बड़े आनन्द से हमारा समय बीतता था। एक समय कपिञ्जल भोजन की तलाश में दूसरे चटकों के साथ, पके हुए शालि धान्य से भरे हुए किसी दूसरे स्थान को चला गया। जब वह रात हो जाने पर भी नहीं आया तब मैं घबड़ाकर उसके वियोग-दुःख से पीडित हो सोचने लगा—आज कपिञ्जल क्यों नहीं आया? क्या किसी ने जाल में बांध लिया? अथवा किसी ने मार डाला? इस तरह सोचते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये। अनन्तर एक समय उसी कोटर में शीघ्रग नाम का शशक सायङ्काल के समय आकर प्रविष्ट हुआ। मैं कपिञ्जल के विषय में निराश हो चुका था। इसलिये मैंने भी नहीं रोका। इसके बाद एक दिन कपिञ्जल, अनाज खाने से मोटा ताजा होकर अपने स्थान को याद कर आया। यह ठीक ही कहा है:—

देहधारियों को स्वर्ग में भी वैसा सुख नहीं होता जैसा कि दरिद्रावस्था में भी अपने देश, अपने नगर और अपने घर में होता है ॥ ९२ ॥

अथाऽसौ कोटरान्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा सापेक्षमाह—'भोः शशक ! न त्वया सुन्दरं कृतं यन्ममावसथस्थाने प्रविष्टोऽसि । तच्छीघ्रं निष्क्रम्यताम् ।' शशक आह—'न तवेदं गृहं, किन्तु ममैव । तत्किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि ।' उक्तं च—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।
उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते ॥ ९३ ॥

तब यह (कपिञ्जल) कोटर के अन्दर खरगोश को देखकर तिरस्कारपूर्वक

बोला—'हे शशक ! तुमने यह अच्छा नहीं किया कि जो तुम मेरे घर में आ घुसे। इसलिये शीघ्र ही निकल जाओ।' शशक ने कहा—'यह घर तुम्हारा नहीं है किन्तु मेरा ही है फिर क्यों झूठे ही कठोर वचन कहते हो।' कहा भी है:—

प्रतिष्ठा करने के बाद बावड़ी, कुआं, तालाब तथा देवमन्दिर और वृक्ष इन वस्तुओं पर किसी का अधिकार नहीं रहता॥ ९३॥

तथा च—

प्रत्यक्षं यस्य यद्भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान्।
तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्यात् न साक्षी नाक्षराणि वा॥ ९४॥

जैसे कहा भी है:—

पहले जिसने दस वर्ष तक जिस क्षेत्र (खेत) का भोग किया है उस में कोई साक्षी या हस्ताक्षर प्रमाण नहीं माना जाता है, केवल भोग प्रमाण होता है। अर्थात् क्षेत्र भोगनेवाले का ही माना जाता है॥ ९४॥

मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तितः।
तिरश्चां च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः॥ ९५॥

मुनियों ने यह पूर्वोक्त निर्णयशैली मनुष्यों के सम्बन्ध में कही है, पशु तथा पक्षियों का (किसी स्थान पर) तभी तक स्वत्व रहता है जब तक वे वहां रहते हैं॥

'तन्ममैतद्गृहम्, न तवेति।' कपिञ्जल आह—'भोः! यदि स्मृतिं प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह येन स्मृतिपाठकं पृष्ट्वा स यस्य ददाति सगृह्णातु।' तथानुष्ठिते मयापि चिन्तितम्—किमत्र भविष्यति? मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः। ततः कौतुकादहमपि तावनुप्रस्थितः। अत्रान्तरे तीक्ष्ण-दंष्ट्रो नामारण्यमार्जारस्तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्नं नदीतटमासाद्य कृत-कुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरर्धपादस्पष्टभूमिः श्रीसूर्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनामकरोत्—अहो! असारोऽयं संसारः। क्षणभङ्गुराः प्राणाः। स्वप्नसदृशः प्रियसमागमः। इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम्, तद्धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिरस्ति। उक्तं च—

अनित्यानि शरीराणि विभावो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ९६॥

'इसलिये यह घर मेरा ही है न कि तुम्हारा।' कपिञ्जल ने कहा—'अगर तुम

धर्मशास्त्र को प्रमाण मानते हो तो मेरे साथ आओ किसी धर्मशास्त्री से पूछें, वह जिसको (यह वृक्ष कोटर) दे वही ले । ऐसा करने पर (जब वे दोनों चल दिये) मैंने सोचा—इस विषय में क्या होगा ? यह मुकदमा मुझे देखना चाहिए । तब कौतुकवश मैं भी उनके पीछे चल दिया । इसी समय तीक्ष्ण दंष्ट्र नाम का जङ्गली विलाव उनके इस झगड़े को सुन कर मार्ग के पास वाली नदी के किनारे पर पहुँच, हाथ में कुशा ले, आँख मींच, ऊपर को भुजा उठा, पैर के अग्रभाग से भूमि को छूता हुआ (खड़ा होकर), सूर्याभिमुख होकर यह (आगे वर्णित) धर्मोपदेश करने लगा—'ओह ! यह संसार असार है । जीवन क्षण भङ्गुर है । प्रियों का समागम स्वप्न समान है । कुटुम्ब का परिपालन इन्द्रजाल (जादू) के सदृश झूठा है । इसलिये धर्मको छोडकर दूसरी गति नहीं है ।' कहा भी है:—

शरीर नाशवान् हैं, धनसंपत्ति हमेशा रहने वाली नहीं, मौत हर समय सिर पर खड़ी है इसलिये धर्म-संचय करना चाहिए ॥ ९६ ॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ९७ ॥

जिस पुरुष के दिन, धर्मानुष्ठान के विना आते और चले जाते हैं (व्यतीत होते हैं) वह लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है (उस मनुष्य को जीवित नहीं कह सकते) ॥ ९७ ॥

नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम् ।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९८ ॥

जो (कुत्ते की पूँछ) न तो गुह्य अङ्ग को ढकती और जो न मक्खी तथा मच्छर आदि को उड़ा ही सकती है ऐसी कुत्ते की पूँछ के समान धर्मशून्य शास्त्रचातुर्य (जो न तो वैराग्य उत्पन्न कर कौपीन धारण करता (संन्यासी बनता) और न मच्छर आदि के समान मनोविकारों (काम आदि) को ही नष्ट कर सकता है) निष्फल ही है ॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

पुलाका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु ।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९९ ॥

जैसे धान्यों में पुलाक, पक्षियों में पूतिका (पतङ्ग) और प्राणियों में मच्छर तुच्छ और निन्दनीय है उसी प्रकार धर्मविमुख मनुष्य तुच्छ और निन्दनीय है ॥

श्रेयः पुष्पफलं वृक्षाद्दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम् ।
श्रेयस्तैलं च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषात् ॥ १०० ॥

वृक्ष की अपेक्षा फूल तथा फल श्रेष्ठ होते हैं, दही से घी उत्तम होता है, खल से तैल श्रेष्ठ है और मनुष्य शरीर से धर्मकार्य श्रेष्ठ होते हैं ॥ १०० ॥

सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ १०१ ॥

धर्महीन पुरुष (जो धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान नहीं करते) जो केवल मलमूत्र के त्याग और पेट भरने के लिये ही यत्न करते हैं वे पशुओं के समान अन्य पुरुषों का कार्य करने के लिये बनाये गये हैं ॥ १०१ ॥

स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०२ ॥

नीतिज्ञ पुरुष सब कार्यों में स्थिरता (जल्दबाजी न करना) की प्रशंसा करते हैं परन्तु अनेक विघ्नों से युक्त धर्म की चाल तेज है (अर्थात् धर्मकार्य शीघ्र कर डालने चाहिए) ॥ १०२ ॥

सङ्क्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः ! किं विस्तरेण वः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ १०३ ॥

हे मनुष्यो ! सङ्क्षेप से तुम्हें धर्म का स्वरूप बताता हूँ, विस्तार से क्या लाभ ? परोपकार पुण्य और दूसरों को दुःख देना ही पाप है ॥ १०३ ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १०४ ॥

धर्म का सार सुनो और सुनकर (हृदय में) धारण करो, जो कार्य अपने लिये अहितकर प्रतीत हो उन्हें दूसरों के साथ भी मत करो। (अथवा—शास्त्रनिषिद्ध कार्य न तो अपने ही लिये करो और न दूसरों के लिये) ॥ १०४ ॥

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह—'भोः भोः ! कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति । तदेनं पृच्छावः ।' कपिञ्जल आह—'ननु स्वभावतोऽयमस्माकं शत्रुभूतः । तद्दूरे स्थित्वा पृच्छावः । कदाचिदस्य व्रतवैकल्यं सम्पद्येत ।' ततो दूरस्थौ तावूचतुः—'भोस्तपस्विन् ! धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्तते । तद्धर्मशास्त्रद्वारेणास्माकं निर्णयं कुरु । यो हीनवादी स ते भक्ष्य' इति । स आह—'भद्रौ !

मामेवं वदतम्, निवृत्तोऽहं नरकमार्गाद्धिंसाकर्मणः। अहिंसैव धर्ममार्गः।'
उक्तं च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्भिरुदाहृतः।
यूकामत्कुणदंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत्॥ १०५॥
हिंसकान्यपि भूतानि यो हिंसति स निर्घृणः।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च॥ १०६॥

उसके इस धर्मोपदेश को सुनकर खरगोश बोला:—'हे कपिञ्जल! नदी के किनारे धर्मतत्व का निरूपण करने वाला यह तपस्वी खड़ा है। इसी से पूछें।' कपिञ्जल बोला:—'यह हमारा स्वभाव से ही शत्रु है। इसलिये दूर खड़े होकर पूछना चाहिए। कदाचित् (हमारे खाने के लोभ से) इसका व्रत-भङ्ग हो जावे।' तब दूर खड़े हो उन्हों (शशक तथा कपिञ्जल) ने कहा:-'हे धर्मोपदेष्टा तपस्विन्! हम दोनों का एक मुकदमा है, धर्मशास्त्रानुसार उसका निर्णय करो। जिसका पक्ष निर्बल हो (जो झूठा हो) उसे तुम खा जाना।' वह बोला:—'हे भद्र पुरुषो! ऐसा मत कहो। मैं नरक के मार्ग वाला हिंसा कर्म को छोड़ चुका हूँ। क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मार्ग है।' कहा भी है:—

क्योंकि धर्मवित् मनुष्यों ने धर्म को अहिंसामूलक कहा है। इसलिये अत्यन्त क्षुद्र (नीज) यूका, खटमल और डांस आदि को भी न मारना चाहिए। जो मनुष्य हिंसक प्राणियों को भी मारता है वह निर्दयी कहलाता है और वह भीषण नरक को प्राप्त होता है और जो अहिंसक पशुओं को मारता है उसका तो कहना ही क्या है (वह तो घोर नरक को प्राप्त होता ही है)॥ १०५-१०६॥

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः, परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्।' अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषाः। उक्तं च—

वृक्षांश्छित्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते॥ १०७॥

तन्नाहं भक्षयिष्यामि। परं जयपराजयनिर्णयं करिष्यामि। किन्त्वहं वृद्धो दूरान्न यथावच्छृणोमि। एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्तिनौ भूत्वा ममाग्रे न्यायं वदतं, येन विज्ञाय, विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोकबाधा न भवति।

और, ये जो याज्ञिक लोग यज्ञ में पशुओं को मारते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि वे श्रुति का वास्तविक अर्थ नहीं समझते। वहां (श्रुति में) केवल यह कहा है कि 'अजों से यज्ञ करना चाहिए'। (वस्तुतः) सात वर्ष के पुराने यव 'अज' कहलाते हैं न कि पशुविशेष। कहा भी है:—

वृक्ष काटकर, पशुओं को मार कर तथा (उनके) रुधिर से कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक पहुँचाने वाला कौन सा कर्म है? ॥१०७॥

इसलिये मैं तुम्हें खाऊँगा नहीं, हाँ, तुम्हारी हारजीत का निर्णय अवश्य करूँगा। परन्तु मैं वृद्ध होने के कारण दूर से ठीक ठीक सुन नहीं पाता। इसलिये मेरे पास आकर, अपना विवाद पेश करो जिससे मैं (उसे) अच्छी तरह समझ कर ठीक ठीक निर्णय कर सकूं ताकि मेरे परलोक प्राप्ति में कोई विघ्न न पड़े।

उक्तं च—

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः॥ १०८॥

जो पुरुष अपना सम्मान स्थिर रखने के लिये अथवा लोभ से, किंवा क्रोध के वशीभूत हो अथवा (किसी के) भय से अपना निर्णय ठीक नहीं देता तो वह नरकगामी होता है ॥ १०८ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥ १०९॥

पशु के लिये झूठ बोलने में पांच (पुरुषों) को मारता है (पांच पुरुषों की हत्या का फल पाता है), गौ के लिये झूठ बोलने में दस को मारता है, कन्या के विषय में मिथ्या भाषण करने पर सौ पुरुषों को मारता है और पुरुष के विषय में झूठ बोलने पर १००० पुरुषों को मारता है ॥ १०९ ॥

उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः।
तस्माद्दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्तयेदृतम्॥ ११०॥

जो मनुष्य न्यायसभा में बैठ कर साफ साफ नहीं बोलता (निर्भय हो अपना फैसला नहीं देता) ऐसे पुरुष को दूर से ही छोड़ देना चाहिए (न्यायासन से हटा देना चाहिए) क्योंकि सत्य बोलना ही न्याय है। (यह राजा का कर्तव्य है कि बात का निरीक्षण करे) ॥ ११० ॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम्।' किं बहुना—तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ यथा तस्योत्सङ्गवर्तिनौ जातौ। ततश्च तेनापि समकालमेवैकः पादान्तेनाक्रान्तोऽन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च। ततो गतप्राणौ भक्षिताविति! अतोऽहं ब्रवीमि—'क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य' इति।

इसलिये निःशङ्क हो मेरे कान के पास आकर साफ साफ कहो। अधिक क्या (कहा जाय)—उस पापी ने शीघ्र ही उनको ऐसा विश्वास दिला दिया कि वे उसकी गोद में जा बैठे। तब उसने एक साथ ही एक को पैर के अग्रभाग से और दूसरे को आरे के समान (तेज) दांतों से पकड़ लिया। अनन्तर उन्हें मार कर खालिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'नीच स्वामी को पाकर' इत्यादि।

भवन्तोऽप्येनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः शशकपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयम्। अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य 'साध्वनेनाभिहितमि'त्युक्त्वा 'भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे' इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभिमतं जग्मुः। केवलमवशिष्टो भद्रासनोपविष्टोऽभिषेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सहास्ते। आह च—कः कोऽत्र भोः! किमद्यापि न क्रियते ममाभिषेकः? इति श्रुत्वा कृकालिकयाऽभिहितम्—'भद्र! कुतोऽयं विघ्नस्ते काकेन। गताश्च सर्वेऽपि विहगा यथेप्सितासु दिक्षु। केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः तिष्ठति केनापि कारणेन। तत्त्वरितमुत्तिष्ठ' येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि। तच्छ्रुत्वा सविषादमुलूको वायसमाह—'भो भो! दुष्टात्मन्! किं मया तेऽपकृतम्? यद्राज्याभिषेको मे विघ्नितः। तदद्यप्रभृति सान्वयमावयोर्वैरं संजातम्।' उक्तं च—

आप लोग भी इस दिन में अन्धे नीच स्वामी को पाकर रात्रि में अन्धे होने के कारण शशक और कपिञ्जल की गति पाओगे। यह समझ कर उचित कार्य करो। उसकी यह बात सुन कर 'इसने बहुत ठीक कहा है' यह कह कर सब पक्षी फिर किसी समय मिलकर राजा के विषय में विचार करेंगे' ऐसा कहते हुए अपने अपने स्थान को चले गये। वहां केवल कृकालिका के साथ राजसिंहासन पर बैठा हुआ उल्लू अपने अभिषेक की प्रतीक्षा करता रहा। वह बोला—यहां कौन है? अब भी (इतना विलम्ब होने पर भी) मेरा अभिषेक क्यों नहीं करते? यह सुन कृकालिका ने कहा—'तुम्हारे अभिषेक में कौवे ने विघ्न डाल दिया। सब पक्षी इधर उधर चले गये। केवल यह कौवा किसी कारण से बैठा है, इसलिये जल्दी उठो'

तुमको तुम्हारे स्थान पर पहुँचा दूँ। यह सुन उल्लू ने दुःखपूर्वक कौवे से कहा—'अरे दुष्ट ! मैंने तेरी क्या बुराई की है ? जो तूने मेरे राज्याभिषेक में विघ्न डाला। इसलिये आज से हमारा तुम्हारा वंशपरम्परा तक वैर हो गया।' कहा भी है :—

रोहते सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना ।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥ १११ ॥

बाणों से विद्ध अङ्ग आदि भर जाता है, तलवार का घाव भी पूरा हो जाता है किन्तु वाणी से विद्ध (हृदय) कभी नहीं भरता इसलिये दुर्वाच्य और घृणास्पद वचन कभी न बोलना चाहिए ॥ १११ ॥

इत्येवमभिधाय, कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः। अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत्—अहो ! अकारणं वैरमासादितं मया, किमिदं व्याहृतम् ! उक्तं च—

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः।
योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो न तद्वचः स्याद्विषमेव तद्भवेत् ॥११२॥

यह कह कर (उल्लू) कृकालिका के साथ अपने स्थान को चला गया। अनन्तर भय से व्याकुल होकर कौवा सोचने लगा—ओह ! बिना कारण ही मैंने बैर मोल ले लिया, यह मैंने क्या कह डाला। कहा भी है :—

इस संसार में जो मनुष्य बिना कारण ही, देश-काल के विरुद्ध, भविष्य में दुःखदायी, अप्रिय और अपना ओछापन प्रकाशित करने वाला वचन बोलता है वह वचन नहीं है किन्तु वह विष ही होता है ॥ ११२ ॥

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः, परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम् ।
'भिषङ्ममास्ती'ति विचिन्त्य भक्षयेदकारणात् को हि विचक्षणो विषम् ॥

बुद्धिमान् पुरुष बलवान् होने पर भी अपनी ओर से किसी के साथ शत्रुता पैदा न करे। कौन समझदार पुरुष '(चिकित्सा के लिये) मेरे पास वैद्य है' यह समझ कर बिना कारण ही विष खायगा ? ॥ ११३ ॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः ।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥ ११४ ॥

पण्डित को चाहिए कि सभा में (दूसरों के सामने) किसी की निन्दा न करे और वह सत्य भी न कहना चाहिए जो कहने पर दुखदायी हो (अप्रीति कर हो) ॥

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं स्वयं च बुध्या प्रविचारिताश्रयम् ।
करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान् स एव लक्ष्म्या यशसां च भाजनम् ॥

वही पुरुष बुद्धिमान् है और वही ऐश्वर्य तथा कीर्ति का भागी होता है जो विश्वस्त मित्रों के द्वारा बार-बार विचार किये गये हुए और स्वयं भी अपनी बुद्धि के अनुसार सावधानी के साथ सोचे हुए कार्य को करता है ॥ ११५ ॥

एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः । तदाप्रभृत्यस्माभिः सह कौशिकानामन्वयागतं वैरमस्ति ।

मेघवर्ण आह—'तात ! एवङ्गतेऽस्माभिः किं क्रियेत ?' स आह—'वत्स ! एवङ्गतेऽपि षाड्गुण्यादपरः स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति । 'तमङ्गीकृत्य स्वयमेवाहं तद्विजयाय यास्यामि । रिपून् वञ्चयित्वा वधिष्यामि ।' उक्तं च—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण आह—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्—

ऐसा सोचता हुआ कौवा भी चला गया । तब ही से हमारे साथ उल्लुओं का वंशपरम्परा गत वैर हो गया है ।

मेघकर्ण ने कहा—'हे तात ! ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए ?' उसने कहा—'वत्स ! ऐसी दशा में भी सन्धि-विग्रह आदि ६ गुणों के अतिरिक्त एक अन्य शक्तिशाली उपाय सोचा है । उसी के सहारे मैं खुद ही उसके विजय के लिये जाऊँगा । शत्रु को धोखा देकर मारूँगा । कहा भी है:—

तरह तरह की बुद्धियों से युक्त, लोकव्यवहार में निपुण पुरुष बलवान् मनुष्यों को भी धोखा दे सकते हैं जैसे कि धूर्तों ने ब्राह्मण को बकरे से वञ्चित कर दिया ॥११६॥

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा ३

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः, कृताग्निहोत्रपरिग्रहः प्रतिवसति स्म । तेन कदाचिन्माघमासे सौम्यानिले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनार्थं किञ्चिद्ग्रामान्तरं गत्वा, कश्चिद्यजमानो याचितः—'भो यजमान ! आगामिन्याममावस्यायामहं यक्ष्यामि यज्ञम् । तद्देहि मे पशुमेकम् ।' अथ तेन तस्य शास्त्रोक्तः, पीवर-

तनुः पशुः प्रदत्तः। सोऽपि तं समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय, स्कन्धे कृत्वा, सत्वरं स्वपुराभिमुखः प्रतस्थे।

किसी स्थान में मित्रशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था, उसने अग्निहोत्र करने का नियम किया था। वह एक समय माघ महीने में—जब कि ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, आकाश मेघों से ढका हुआ था और धमी-धमी वर्षा पड़ रही थी—पशु की याचना के लिये किसी दूसरे ग्राम में जाकर किसी यजमान से मांगा (कहा)—'हे यजमान! मैं आगामी अमावस के दिन यज्ञ करूँगा। इसलिये मुझे एक पशु दो। उसने शास्त्र-विहित (जैसा कि शास्त्रों में यज्ञ के लिये पशु बताया गया है।) मोटा-ताजा एक पशु (बकरा) उसे दिया। वह हृष्ट-पुष्ट होने के कारण इधर-उधर भागता हुआ देखकर उसे अपने कन्धे पर रख जल्दी-जल्दी अपने गांव की ओर चल पड़ा।

अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामकण्ठाः संमुखा बभूवुः। तैश्च तादृशं पीवरं तनुः स्कन्ध आरूढमालोक्य, मिथोऽभिहितम्—'अहो! अस्य पशोर्भक्षणादद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थतां नीयते। तदेनं वञ्चयित्वा, पशुमादाय शीतत्राणं कुर्मः।' अथ तेषामेकतमो वेशपरिवर्तनं विधाय, संमुखो भूत्वाऽपमार्गेण तमाहिताग्निमूचे—'भो भोः! बालाग्निहोत्रिन्! किमेवं जनविरुद्धं हास्यकार्यमनुष्ठीयते। यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धाधिरूढो नीयते। उक्तं च यतः—

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्तिताः।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान्नैव संस्पृशेत्॥ ११७॥

जब वह रास्ते में जा रहा था तब भूख से व्याकुल तीन धूर्त उसके सामने पड़े (सामने से आते हुए उसे मिले)। उन्होंने ऐसा हृष्ट-पुष्ट शरीर (उस बकरे को) कन्धे पर चढ़ा हुआ देख कर आपस में कहा—'ओह! इस पशु को खाकर आज के शीत से अपनी रक्षा करनी चाहिए (श०-आज का शीत व्यर्थ किया जावे)। इसलिये इसको धोखा देकर और पशु लेकर शीत से अपनी रक्षा करें। तब उनमें से एक अपना वेश बदल कर, बगल (पार्श्व) के रास्ते से सामने हो उस अग्निहोत्री से बोला—'अरे मूर्ख! अग्निहोत्री! क्यों तुम लोकविरुद्ध ऐसा हंसी का काम करते हो जो इस (अपवित्र) कुत्ते को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो। क्योंकि कहा भी है:—

कुत्ते और मुर्गे छूना चाण्डाल (डोम, चमार आदि) को छूने के समान है, विशेष कर गदहे और ऊँट को छूना अपवित्र कहा गया है। इसलिये इनको नहीं छूना चाहिए ॥ ११७ ॥

ततश्च तेन कोपाभिभूतेनाहितम्—'अहो ! किमन्धो भवान् ? यत्पशुं सारमेयत्वेन प्रतिपादयसि !' सोऽब्रवीत्—'ब्रह्मन् ! कोपस्त्वया न कार्यः, यथेच्छं गम्यताम् ।' अथ यावत्किञ्चिदध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावद् द्वितीयो धूर्तः सम्मुखमभ्युपेत्य तमुवाच—'भोः ! ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टम्, यद्यपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सस्तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम् । उक्तं च यतः—

तिर्यञ्चं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः ।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा ॥ ११८ ॥

तब उसने क्रुद्ध होकर कहा—'क्या तुम अन्धे हो ? जो पशु को कुत्ता बताते हो ।' उसने कहा—'ब्रह्मन् ! आप गुस्सा न करें, इच्छानुसार जाइये ।' वह कुछ ही दूर गया था कि दूसरा धूर्त सामने आकर बोला—'हे ब्रह्मन् ! बड़े दुःख की बात है, यद्यपि यह मरा हुआ बछड़ा तुम्हारा प्यारा है तो भी इसे कन्धे पर चढ़ाना उचित नहीं है । क्योंकि कहा है :—

जो दुर्बुद्धि पुरुष मरे हुए पशु-पक्षी आदि अथवा मनुष्य को ही छूता है पञ्चगव्य अथवा चान्द्रायण (व्रत विशेष) से उसकी शुद्धि होती है ॥ ११८ ॥

अथासौ सकोपमिदमाह—'भोः किमन्धो भवान् ? यत्पशुं मृतवत्सं वदति ।' सोऽब्रवीत्—'भगवन् ! मा कोपं कुरु, अज्ञानान्मयाभिहितम्, त्वमात्मरुचिं समाचार' इति । अथ यावत्स्तोकं वनान्तरं गच्छति तावत्तृतीयोऽन्यवेशधारी धूर्तः संमुखः समुपेत्य तमुवाच-'भोः ! अयुक्तमेतत्, यत्त्वं रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि; तत्त्यज्यतामेषः । उक्तं च—

यः स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।
सचैलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये ॥ ११९ ॥

तत्त्यजैनं यावदन्यः कश्चिन्न पश्यति ।'

तब वह (ब्राह्मण) क्रोधपूर्वक बोला—'क्या आप अन्धे हो जो पशु को मरा बछड़ा बताते हो ।' वह बोला—भगवन् ! क्रोध न कीजिये मैंने अज्ञानवश यह कह दिया आप अपना काम करें ।' अनन्तर जंगल में वह कुछ ही दूर आगे बढ़ा था कि तीसरा धूर्त वेष बदल सामने आकर उससे बोला—'भोः ! ब्राह्मण !

यह बहुत अनुचित है कि तुम गदहे को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो, इसलिये इसको छोड़ दो। कहा भी है:—

जो मनुष्य जानबूझ कर अथवा अनजाने में गदहे को छूता है उसके पाप की शान्ति के लिये वस्त्र सहित स्नान कहा गया है॥ ११९॥

इसलिये इसे किसी के देखने से पूर्व ही छोड दो।'

अथासौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयाद्भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य पलायितुं प्रारब्धः। ततस्तेऽपि त्रयो मिलित्वा पशुमादाय यथेच्छं भक्षितुमारब्धाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बहुबुद्धिसमायुक्ताः' इति।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति॥ १२०॥

तब वह उस पशु को रासभ समझता हुआ (जो कोई इसे देखता है वही अपवित्र जानवर बताता है अतः यह अवश्य अपवित्रात्मा प्राणी है।) डर के कारण पृथ्वी पर उसे फेक कर अपने घर की ओर भागा। तब वे तीनों (धूर्त) मिल कर उस पशु को ले खाने लगे। इसलिये मैं कहता हूँ-'अनेक बुद्धि वाले' इत्यादि।

अथवा यह ठीक ही कहा है:—

इस संसार में कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो नये भृत्य के नम्र-व्यवहारों, अतिथि के बचनों, सुन्दरियों के आँसुओं और दुष्टों के वचन-जालों से न ठगा गया हो॥ १२०॥

किञ्च—दुर्बलैरपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः। उक्तं च—

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः॥ १२१॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत्?' स्थिरजीवी कथयति—

बहुत से (मिले हुए) मनुष्यों के साथ चाहे वे दुर्बल ही क्यों न हो विरोध करना उचित नहीं है। कहा भी है:—

---

१. एतच्छ्लोकप्रतिपादितापीमा कथा क्वचिन्न दृश्यते। युक्तश्चैतत्। अस्या कथायाः प्रकृतकथा (मुख्यकथा) नुपकारकत्वात्।

बहुत से मनुष्यों के साथ विरोध न करना चाहिए क्योंकि (मिले हुए) अनेक जन दुर्जय होते हैं जैसे चीटियाँ फुंकारते हुए भी महासर्प को खा जाती हैं ॥

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? स्थिरजीवी ने कहा ।

कथा ४

अस्ति कस्मिंश्चिद्वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम । स कदाचिद्बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्यान्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्धः । निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वाद्दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः । अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च । कति व्यापादयति कति वा ताडयति ? अथ प्रभूतत्वाद्विस्तारितबहुव्रणः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'बहवो न विरोद्धव्याः' इति ।

किसी वल्मीक में बड़े शरीर वाला अतिदर्प नाम का काला सांप रहता था । एक समय वह बिल से निकलने के उत्तम मार्ग को छोड़ कर अन्य छोटे मार्ग से निकलने लगा । शरीर के बड़ा होने तथा बिल छोटा होने के कारण निकलते समय उसके शरीर में घाव हो गया । घाव के रुधिर की गन्ध पाकर बहुत सी चींटियाँ चारो ओर से लिपट गईं और उन्होंने उसे व्याकुल कर दिया । उसने कुछ चींटियों को मार डाला और कुछ को घायल कर दिया परन्तु (चींटियों के) अधिक होने के कारण उसका घाव बहुत बढ़ गया, उसका सारा शरीर रक्तमय हो गया (और अन्त में) वह मर गया । इसलिये मैं कहता हूँ कि बहुतों से साथ विरोध नहीं करना चाहिए ।

'तदत्रास्ति मे किञ्चिद्वक्तव्यमेव । तदवधार्य यथोक्तमनुष्ठीयताम् ।' मेघवर्ण आह—'तत्समादेशय, तवादेशो नान्यथा कर्तव्यः ।' स्थिरजीवी प्राह-'वत्स ! समाकर्णय तर्हि, सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपितः । तन्मां विपक्षभूतं कृत्वातिनिष्ठुरवचनैर्निर्भर्त्स्य-यथा विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति तथा-समाहृतरुधिरैरालिप्यास्यैव न्यग्रोधस्याधस्तात्प्रक्षिप्य मां गम्यतां पर्वतमृष्यमूकं प्रति । तत्र सपरिवारस्तिष्ठ, यावदहं समस्तान्सपत्नीन्सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्याभिमुखान्कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यो दिवसे तानन्धतां प्राप्तांस्त्वां नीत्वा व्यापादयामि । ज्ञातं मया सम्यक् नान्यथाऽस्माकं सिद्धिरस्ति । यतो दुर्गमेतदपसाररहितं केवलं वधाय भविष्यति ।' उक्तं च—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते ।
अपसारपरित्यक्तं दुर्गव्याजेन बन्धनम् ॥ १२२ ॥

'इन विषय में मुझे कुछ कहना ही है । उसे समझ कर मेरे कथनानुसार काम करो ।' मेघवर्ण ने कहा—'आज्ञा कीजिये, आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जायगा ।' स्थिरजीवी ने कहा—'हे वत्स ! तो सुनो, मैंने साम आदि के अतिरिक्त एक पांचवाँ उपाय निश्चय किया है । (वह यह है) मुझे अपना शत्रु समझ कर अतिकठोर वचनों से धमकाओ जिससे कि शत्रु के गुप्तचरों को विश्वास हो जाय, तथा कहीं से रुधिर लाकर मुझे उससे लिप्त कर दो और इस बड़ के नीचे डाल कर ऋष्यमूक पर्वत पर चले जाओ । जब तक सब शत्रुओं को उत्तम उपायों के द्वारा विश्वास दिला अपने अनुकूल बना कर काम पूरा न कर लूँ तब तक परिवार सहित वहीं रहो । (वहाँ रह कर मैं) उनके किले का अन्दरूनी हाल जान कर दिन के समय जब कि वे अन्धे होंगे तुम को ले जाकर उन्हें मार डालूँगा । मैंने खूब विचार कर समझ लिया है कि इसके सिवाय हम (किसी प्रकार से) सफलता प्राप्त नहीं कर सकते । निष्क्रमण मार्ग से रहित यह दुर्ग हमारे नाश का ही कारण होगा । कहा भी है:—

नीतिज्ञ लोग निष्क्रमण मार्ग से युक्त (गुप्तद्वारयुक्त) दुर्ग को ही (उत्तम) दुर्ग कहते हैं । निष्क्रमण मार्ग से रहित दुर्ग दुर्ग के नाम से बन्धन ही है ॥ १२२ ॥

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या । उक्तं च—

अपि प्राणसमानिष्टान्पालिताँल्लालितानपि ।
भृत्यान्युद्धे समुत्पन्ने पश्येन्म्लानामिव स्रजम् ॥ १२३ ॥

और तुम मेरे ऊपर दया न करना । कहा भी है:—

युद्धकाल उपस्थित होने पर प्राण-समान, प्रिय, पाले-पोसे भी भृत्यों को मुरझाई हुई माला के समान (राजा) समझे ॥ १२३ ॥

तथा च—

प्राणवद्रक्षयेद् भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत् ।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गमः ॥ १२४ ॥

जिस दिन शत्रु के साथ सामना करना पड़ेगा और युद्ध होगा उस दिन के लिये राजा को चाहिए कि भृत्यों की प्राणों के समान रक्षा करे और अपने शरीर के समान उनका पोषण करे ॥ १२४ ॥

तत्त्वयाहं नात्र विषये प्रतिषेधनीयः । इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलहं कर्तुमारब्धः । अथान्ये तस्य भृत्याः स्थिरजीविनमुच्छृङ्खलवचनं जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधायोद्यता मेघवर्णेनाभिहिताः—'अहो ! निवर्तध्वं यूयम् ; अहमेवास्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि ।' इत्यभिधाय, तस्योपरि समारुह्य, लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं निहत्याहृतरुधिरेण प्लावयित्वा तदुपदिष्टमृष्यमूकपर्वतं सपरिवारो गतः । एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषत्प्रणिधीभूतया तत्सर्वं तदमात्यव्यसनं मेघवर्णस्य गमनं चोलूकराजाय निवेदितं—यत्तवारिः संप्रति भीतः क्वचित्प्रचलितः सपरिवार इति ।' अथोलूकाधिपस्तदाकर्ण्यास्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः । प्राह च—'त्वर्यतां त्वर्यतां भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यैर्लभ्यते ।' उक्तं च—

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम् ।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम् ॥ १२५ ॥

इसलिये तुम मुझे इस विषय में मत रोको । यह कह कर उसके साथ बनावटी लड़ाई करने लगा । तब मेघवर्ण के अन्य भृत्य, स्थिरजीवी को उच्छृङ्खल बातें कहता हुआ देखकर उसके मारने के लिये तयार हुए पर मेघवर्ण ने (उन्हें रोक कर) कहा—'तुम लोग रहने दो, इस शत्रु-पक्षपाती दुष्ट को मैं स्वयं दण्ड दूंगा ।' यह कह कर उसके ऊपर चढ़ गया और चोंचों से हलके हलके प्रहार करने लगा, तथा लाये हुए रुधिर से उसे भिगोकर उसके बताये हुए ऋष्यमूक पर्वत पर परिवार सहित चला गया । इधर शत्रुओं के गुप्तचर का काम करनेवाली कृकालिका ने यह सब उसके (मेघवर्ण) मन्त्री का संकट और मेघवर्ण का जाना उलूकराज से कहा कि तुम्हारा शत्रु इस समय भयभीत हो परिवार सहित कहीं चला गया । यह सुनकर उलूकराज सायङ्काल के समय मन्त्री और परिवार सहित कौवों को मारने के लिये रवाना हुआ । और (भृत्यों से) बोला—जल्दी करो, जल्दी करो, डरा हुआ शत्रु भागता हुआ बड़े भाग्य से मिलता है । कहा भी है:—

भागने के समय एक और नवीन स्थान पर वास करने के समय दूसरा छिद्र (अपनी कमजोरी) करता हुआ शत्रु (उस समय) राजभृत्यों के व्यग्र होने के कारण शत्रु के अधीन हो जाता है—शत्रु के हाथ पड़ जाता है ॥ १२५ ॥

एवं ब्रुवाणः समन्तान्न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्ट्य व्यवस्थितः। यावन्न कश्चिद्वायसो दृश्यते, तावच्छाखाग्रमधिरूढो हृष्टमना, बन्दिभिरभिष्टूयमानोऽरिमर्दनस्तान्परिजनान्प्रोवाच—'अहो! ज्ञायतां तेषां मार्गः, कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः? तद्यावन्न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावदेव पृष्ठतो गत्वा व्यापाद्या भवन्ति। उक्तं च—

वृतिमप्याश्रितः शत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा।
किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम्॥ १२६॥

ऐसा कहता हुआ न्यग्रोध वृक्ष के निचले भाग को चारों ओर से घेर कर बैठ गया। जब कोई कौवा दिखाई न पड़ा तब अरिमर्दन प्रसन्न-चित्त हो शाखापर चढ़ गया, (उस समय) बन्दी लोग स्तुति करने लगे। तब वह अपने भृत्यों से बोला-उनके रास्ते का पता लगाओ, कौवे कौन से रास्ते से भागे हैं? जब तक वे दुर्ग का आश्रय न लें तभी तक पीछे से जाकर मारे जा सकते हैं। कहा भी है:—

वृति (खेत की बाड़) का भी सहारा पाकर शत्रु अजेय हो जाता है फिर उत्तम युद्धसामग्री से सुसज्जित दुर्ग का आश्रय पाने पर तो कहना ही क्या है? ॥१२६॥

अथैतस्मिन्प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास—'यदेतेऽस्मच्छत्रवोऽनुलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति। ततो मया न किञ्चित्कृतं भवति। उक्तं च—

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥ १२७॥

जब यह बात उपस्थित हुई तब स्थिरजीवी सोचने लगा—ये हमारे शत्रु हमारा समाचार न जानकर जैसे आये थे वैसे ही वापिस जा रहे हैं, तब मेरा तो काम कुछ भी न हुआ। कहा भी है:—

कार्यों का प्रारम्भ ही न करना पहिली बुद्धिमानी है और आरम्भ किये हुए काम को अच्छी तरह समाप्त करना दूसरा बुद्धि का चिह्न है॥ १२७॥

तद्वरमनारम्भो न चारम्भविघातः, तदहमेताञ्छब्दं संश्राव्यात्मानं दर्शयामि' इति विचार्य मन्दं मन्दं शब्दमकरोत्। तच्छ्रुत्वा ते सकला अप्युलूकास्तद्वधाय प्रजग्मुः। अथ तेनोक्तम्—'अहो! अहं स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री मेघवर्णेनैवेदृशीमवस्थां नीतः, तन्निवेदयतात्मस्वामिने।

तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति । अथ तैर्निवेदितः स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात्तस्य सकाशं गत्वा प्रोवाच—'भो भोः ! किमेतं दशां गतस्त्वम्, तत्कथ्यताम् ।' स्थिरजीवी प्राह—'देव ! श्रूयतां तदवस्थाकारणम् । अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां पीडया युष्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मयाऽभिहितं—'स्वामिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं, बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम् ।' उक्तं च—

बलीयसा हीनबलो विरोधं, न भूतिकामो मनसाऽपि वाञ्छेत् ।
न बध्यते वेतसवृत्तिरत्र, व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ॥ १२८ ॥

इसलिये किसी काम का आरम्भ न करना ही अच्छा लेकिन आरम्भ करके बीच में ही छोड़ देना अच्छा नहीं । अतः मैं शब्द करके अपने को इनके सामने प्रकट करूँ यह सोचकर उसने धीरे-धीरे शब्द किया । उस (शब्द) को सुनकर सब उल्लू उसे मारने के लिये दौड़े । तब उस (स्थिरजीवी) ने कहा—मैं स्थिरजीवी नामक मेघवर्ण का मन्त्री हूँ । मेघवर्ण ने ही मेरी यह दशा की है, अपने स्वामी से कहो मुझे उसके साथ बहुत बातचीत करनी है । उन्होंने उलूकराज से कहा—उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । वह तुरन्त उसके पास जाकर बोला—तेरी यह दशा कैसे हुई ? यह बताओ ।

स्थिरजीवी ने कहा—हे देव ! इस दशा का कारण सुनिये । पिछले दिन वह दुष्ट मेघवर्ण आपके द्वारा मारे हुए अनेक कौवों की पीडा से आपके उपर क्रोध और शोक में भर कर युद्ध के लिये चलने लगा । तब मैंने कहा—स्वामिन् ! आपका उसके ऊपर जाना उचित नहीं क्योंकि वे बलवान् और हम निर्बल हैं । कहा भी है :—

अपनी भलाई चाहने वाले दुर्बल पुरुष को चाहिए कि वह बलवान् के साथ मन से भी विरोध करने की इच्छा न करे, इस संसार में बेंत की वृत्ति धारण करने वाला (शत्रु के सामने नम्रता से व्यवहार करने वाला) नहीं मारा जाता परन्तु पतङ्ग के समान वृत्ति वाले (लालटैन पर गिरने वाले कीड़ों के समान बलवान् शत्रु पर आक्रमण करने वाले) का नाश अवश्यम्भावी है ॥ १२८ ॥

तत्तस्योपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तं च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान् ।
दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान् रक्षितैस्तैर्धनं पुनः ॥ १२९ ॥

इसलिये भेंट देकर उसके साथ सन्धि करना ही युक्त है। कहा भी है:—

बुद्धिमान् पुरुष शत्रु को बलवान् समझकर अपना सब कुछ देकर भी प्राणों की रक्षा करे क्योंकि प्राणों की रक्षा होने पर धन फिर भी मिल सकता है ॥ १२९ ॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं मामाशङ्कमानेनेमां दशां नीतः। तत्तव पादौ साम्प्रतं मे शरणम्। किं बहुना विज्ञप्तेन? 'यावदहं प्रचलितुं शक्नोमि तावत्त्वां तस्यावासं नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि।' इति।

अथारिमर्दनस्तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्धं मन्त्रयाञ्चक्रे। तस्य च पञ्च मन्त्रिणः। तद्यथा—रक्ताक्षः, क्रूराक्षः, दीप्ताक्षः, वक्रनासः प्राकारकर्णश्चेति। तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्—'भद्र! एष तावत्तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः। तत्किं क्रियताम्?' इति। रक्ताक्ष आह—'देव! किमत्र चिन्त्यते। अविचारितमयं हन्तव्यः। यतः—

हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान्भवेत्।
प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः ॥ १३० ॥

दुष्टों ने मेरे ऊपर (पहिले से ही) उसे कुपित रक्खा था, यह सुन कर वह मुझे तुम्हारा पक्षपाती समझने लगा और उसी ने मेरी यह दशा की है। अब तो आपके चरण ही मेरी शरण (रक्षक) हैं। मैं अधिक क्या निवेदन करूँ? जब तक मैं चलने में समर्थ हूँ तब तक तुमको उसके स्थान पर ले जाकर सब कौवों का नाश करूँगा।'

अरिमर्दन यह सुन कर वंशपरम्परा से प्राप्त अपने मन्त्रियों के साथ सलाह करने लगा। उसके पांच मन्त्री थे। उनके नाम ये हैं—रक्ताक्ष, क्रूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास और प्राकारकर्ण। पहिले रक्ताक्ष से पूछा—'भद्र! यह शत्रु का मन्त्री मेरे हाथ पड़ गया है, अब क्या करना चाहिए?' रक्ताक्ष ने कहा—'देव! इसमें सोचने की क्या बात है? बिना विचारे इसे मार डालना चाहिए। क्योंकि—

दुर्बल शत्रु को तभी मार डालना चाहिए जब तक वह बलवान् न हो क्योंकि अपने पुरुषार्थ का सहारा पाकर पीछे वह दुर्जय हो जाता है ॥ १३० ॥

किं च 'स्वयमुपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपती'ति लोके प्रवादः। उक्तं च—

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकाङ्क्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालकर्माऽचिकीर्षता ॥ १३१ ॥

और भी, लोक में किंवदन्ती है कि स्वयं आई हुई लक्ष्मी का यदि त्याग किया जाय तो वह शाप देती है। कहा भी है:—

(अपनी उन्नति का) सुअवसर चाहने वाले पुरुष को (अपने जीवन में) वह सुअवसर एक बार प्राप्त होता है। उस समय जो पुरुष काम करना नहीं चाहता वह फिर उसे प्राप्त नहीं होता ॥ १३१ ॥

श्रूयते च यथा—

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ॥ १३२ ॥

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

जैसा कि सुना जाता है—

(हे विप्र !) जलती हुई चिता और घायल हुए मेरे फण को देखो जो प्रीति खण्डित होकर जोड़ी जाती है वह स्नेह प्रकट करने पर भी नहीं बढ़ती ॥ १३२ ॥

अरिमर्दन ने कहा—'यह कैसे ?' रक्ताक्षने कहा—

कथा ५

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः। तस्य च कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलः कालोऽतिवर्तते। अथैकस्मिन्दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्त्तः स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तोऽनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारितं बृहत्फटायुक्तं भीषणं भुजङ्गमं दृष्ट्वा चिन्तयामास—'नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता। तेनेदं मे कृषिकर्म विफलीभवति। तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि।' इत्यवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपगत्योवाच—'भोः ! क्षेत्रपाल ! मयैतावन्तं कालं न ज्ञातं यत्त्वमत्र वससि। तेन पूजा न कृता। तत्साम्प्रतं क्षमस्वेति।' एवमुक्त्वा दुग्धं च निवेद्य गृहाभिमुखं प्रायात्। अथ प्रातर्यावदागत्य पश्यति तावद् दीनारमेकं शरावे दृष्टवान्। एवञ्च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति, एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति। अथैकस्मिन्दिवसे क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम। पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः। दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकं दृष्ट्वा गृहीत्वा च चिन्तितवान्—'नूनं सौवर्णदीनारपूर्णो वल्मीकः।

तदेनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि' इत्येवं सम्प्रधार्यान्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लगुडेन ताडितः। ततः कथमपि दैववशादमुक्तजीवित एव रोषात्तमेव तीव्रविषदशनैस्तथाऽदशत्-यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसंचयैः संस्कृतः। अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः। स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्। अब्रवीच्च—

भूतान् यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान्।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा॥ १३३॥

पुरुषैरुक्तं—'कथमेतत्?' ब्राह्मणः कथयति—

किसी गांव में हरिदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। खेती करते हुए हमेशा ही उसका समय निष्फल जाता था (कृषि कार्य में उसे कभी भी लाभ न होता था)। एक दिन वह ब्राह्मण गरमी के अन्त में धूप से पीडित हो अपने खेत के बीच वृक्ष की छाया में लेटा था उसने पास में ही वल्मीक के ऊपर फन फैलाये हुए भयानक सर्प को देख कर विचार किया—'इस क्षेत्र-देवता की मैंने कभी पूजा नहीं की, इसी से खेती में मुझे लाभ नहीं होता। इसलिये आज मैं इसकी पूजा करूँगा।' यह निश्चय कर कहीं से दूध मांग लाया और उसे कसोरे में रख कर वल्मीक के पास जाकर बोला—'हे क्षेत्ररक्षक (क्षेत्राधिपते!) मुझे अब तक मालूम नहीं था कि तुम यहां रहते हो। इसलिये पूजा नहीं की, अब रक्षा करो।' यह कह और दूध देकर अपने घर की ओर चला गया। जब वह प्रातःकाल आया तब उसने कसोरे में रक्खी हुई एक मोहर देखी। इसी प्रकार प्रतिदिन एकाकी आकर उसे दूध देता और एक एक मोहर लेता था। एक दिन वल्मीक पर दूध ले जाने के लिये अपना पुत्र नियुक्त कर ब्राह्मण दूसरे ग्राम को गया। पुत्र भी दूध वहाँ ले जाकर और रख कर घर चला आया। दूसरे दिन वहां जाकर उसने एक मोहर देखी उसे लेकर वह सोचने लगा—'निश्चय ही यह वल्मीक सोने की मोहरों से भरा हुआ है। इसलिये इसे (सर्प को) मार कर सब एक ही वार ले लूँ।' यह निश्चय कर दूसरे दिन ब्राह्मण-पुत्र ने दूध देने के समय सांप को लाठी से प्रहार किया। भाग्यवश वह नहीं मरा, उसने क्रोध से तेज विषैले (विष से भरे हुए) दांतों से उसे ऐसा काटा कि वह तुरन्त मर गया। कुटुम्बी लोगों ने

क्षेत्र के पास ही लकड़ियों से उसका दाह-कर्म कर दिया। दूसरे दिन उसका बाप भी आ गया। घर के लोगों से पुत्र के विनाश का कारण सुन कर उसने भी उनका समर्थन किया (उसकी जिस प्रकार मृत्यु हुई वह उचित ही हुई, लोभ का फल ऐसा ही होता है)। और कहा—

जो पुरुष अपनी शरण में आये हुए प्राणियों पर दया नहीं करता उसके निश्चित अर्थ इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि पद्मसरोवर में हंस नष्ट हो गये॥ १३३॥

पुरुषों ने पूछा—'यह कैसे?' ब्राह्मण ने कहा—

कथा ६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा। तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति। तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हंसास्तिष्ठन्ति। षण्मासे-षण्मासे पिच्छमेकैकं परित्यजन्ति। अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत्पक्षी समायातः। तैश्चोक्तः—'अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यम्। येन कारणेनास्माभिः षण्मासान्ते पिच्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत्सरः।' एवञ्च किं बहुना, परस्परं द्वैधमुत्पन्नम्। स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्—'देव! एते पक्षिण एवं वदन्ति, यद् 'अस्माकं राजा किं करिष्यति? न कस्याप्यावासं दद्मः।' मया चोक्तं—'न शोभनं युष्माभिरभिहितम्। अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि। एवं स्थिते देवः प्रमाणम्।' ततो राजा भृत्यानब्रवीत्—'भो भोः! गच्छत, सर्वान्पक्षिणो गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत।' राजादेशानन्तरमेव प्रचेलुस्ते। अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान्दृष्ट्वा तत्रैकेन पक्षिणा वृद्धेनोक्तम्—'भोः! स्वजनाः! न शोभनमापतितम्। ततः सर्वैरेकमतीभूयोत्पतितव्यम्।' तैश्च तथाऽनुष्ठितम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'भूतान्यो नानुगृह्णाति।' इति।

किसी नगर में चित्ररथ नामक राजा रहता था। उसका पद्मसर नाम का एक सरोवर था, सिपाही उसकी रक्षा किया करते थे। उसमें बहुत से सोने के हंस रहते थे। वे छठे-छठे महीने (सोने का) एक-एक पंख दिया करते थे। एक समय उस तालाब में सोने का एक बड़ा पक्षी आया। उन्होंने (सर में रहने वाले पक्षियों ने) कहा—'तुम हमारे बीच में मत रहो क्योंकि हम लोगों ने हर छठे महीने एक-एक पिच्छ (पंख) देकर यह तालाब ले लिया है।' अधिक क्या? इस प्रकार

उनमें झगड़ा उत्पन्न हो गया। उसने राजा के पास जाकर कहा—'हे राजन्! ये पक्षी कहते हैं कि राजा हमारा क्या करेगा? हम किसी को नहीं रहने देते।' मैंने कहा—'आप लोगों ने यह बात उचित नहीं कही, मैं राजा से जाकर निवेदन करूँगा। अब आप जैसा उचित समझें (वैसा किया जाय)।' तब राजा ने भृत्यों से कहा—'जाओ, सब पक्षियों को मार कर जल्दी ले आओ।' राज की आज्ञा पाते ही वे चल पड़े। लकड़ी हाथ में लिये हुए राजपुरुषों को (आता हुआ) देख कर उनमें से एक वृद्ध पक्षी ने कहा—'स्वजनो! बड़ा अनर्थ उपस्थित हुआ, इसलिये सबको एक मत होकर (विना किसी प्रकार का विवाद या विचार किये हुये) उड़ जाना चाहिए।' उन्होंने वैसा ही किया। इसलिये मैं कहता हूँ—'जो प्राणियों पर दया नहीं करता।'

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूषे क्षीरं गृहीत्वा तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौत्। तदा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच—'त्वं लोभादत्रागतः पुत्र शोकमपि विहाय। अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता। तव पुत्रेण यौवनोन्मादेनाहं ताडितः, मया स दष्टः। कथं मया लगुडप्रहारो विस्मर्तव्यः, त्वया च पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा बहुमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्त्वा—'अतःपरं पुनस्त्वया नागन्तव्यम्' इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः। ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन्स्वगृहमागतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'चितिकां दीपितां पश्य' इति। 'तदस्मिन्हतेऽयत्नादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति।' तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ—'भद्र! त्वं तु किं मन्यसे?' सोऽब्रवीत्—'देव! निर्दयमेतद्यदनेनाभिहितम्।' यत्कारणं शरणागतो न बध्यते। सुष्ठु खल्विदमाख्यनम्—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥ १३४॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत्?' क्रूराक्षः कथयति—

यह कह कर फिर भी ब्राह्मण प्रातःकाल दूध लेकर वहाँ (वल्मीक पर) और ऊँचे स्वर से सर्प की स्तुति करने लगा। तब सर्प बहुत देर के बाद वल्मीक के द्वार के अन्दर छिपे हुए ही ब्राह्मण से बोला—'तू लोभवश पुत्रशोक भी छोड़ कर

यहाँ आया है। अब आगे से तुम्हारी और मेरी प्रीति उचित नहीं है। यौवन से उन्मत्त हो तेरे पुत्र ने मुझे मारा और मैंने उसे काटा। कैसे मैं दण्डे की चोट भूल सकता और तू पुत्र शोकजन्य दुःख कैसे भूल सकता है ?' यह कह, बहुमूल्य हीरा उसे देकर अब से यहाँ मत आना, ऐसा कह कर अपने बिल के अन्दर घुस गया। ब्राह्मण भी उस हीरा को लेकर पुत्र की बुद्धि की निन्दा करते हुए अपने घर गया। इसलिये मैं कहता हूं—'जलती हुई चिता देखकर' आदि उसे मारने पर अनायास ही आपका राज्य निष्कण्टक होगा। उसके वचन को सुनकर क्रूराक्षको पूछा—' हे भद्र ! तुम्हारा क्या विचार है ?' वह (क्रूराक्ष) बोला:—'महाराज ! इसने तो निर्दयता की बात कही। क्योंकि शरणागत नहीं मारे जाते। यह सुन्दर कथा है :—

सुना जाता है कि किसी कबूतरने शरणागत शत्रु की पूजा (सत्कार) की और अन्तमें अपने मांस से उसकी क्षुधा शान्ति की ॥ १३४ ॥

अरिमर्दन बोला:—'यह कैसे ?' क्रूराक्षने कहा—

कथा ७

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १३५ ॥

एक घने वन में कोई बहेलिया घूम रहा था जिसका व्यवहार बहुत नीच था, जो प्राणियों के लिये यम के समान और अत्यन्त क्रूर था ॥ १३५ ॥

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १३६ ॥

उस निर्दय कार्य के कारण न तो उसका कोई मित्र था, न सम्बन्धी और न कोई बन्धु ही था। उन सबने उसको छोड़ दिया था ॥ १३६ ॥

अथवा—

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १३७ ॥

जो मनुष्य कठोर, दुराचारी और प्राणियों के प्राण हरण करने वाले होते हैं वे प्राणियों के लिये भयदायक होते हैं ॥ १३७ ॥

स पञ्जरकमादाय पाशं च लगुडं तथा ।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १३८ ॥

सब प्राणियों की हिंसा में तत्पर वह व्याध पिंजड़ा, जाल (रस्सी) तथा दण्डा लेकर प्रतिदिन वन को जाया करता था ॥ १३८ ॥

अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका ।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १३९ ॥

एक दिन एक कबूतरी वन में घूमते हुए उस व्याध के हाथ पड़ गई उसने उसे पिंजड़े में बन्द कर दिया ॥ १३९ ॥

अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन् घनैः ।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत् ॥ १४० ॥

इसके अनन्तर जब कि वह वन में घूम रहा था उसी समय सब दिशाएँ मेघों से काली हो गईं–भर गईं और प्रलयकाल के समान बड़ा भारी आंधी-पानी बरसने लगा ॥ १४० ॥

ततः स त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः ।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १४१ ॥

अनन्तर वह व्याध भयभीत हुआ और बार बार कांपता हुआ, अपनी रक्षा के लिये कोई आश्रय तलाश करते हुए एक महावृक्ष के पास पहुंचा ॥ १४१ ॥

मुहूर्तं पश्यते यावद्वियत् विमलतारकम् ।
प्राप्य वृक्षं वदत्येवं योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥ १४२ ॥
तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।
शीतेन भिद्यमानं च क्षुधया गतचेतनम् ॥ १४३ ॥ युग्मम् ।

जब वह कुछ देर तक देखता रहा तभी आकाश में तारे चमकने लगे (वर्षा और हवा रुक जाने के कारण आकाश निर्मल हो गया) तब वह वृक्ष के पास जाकर कहने लगा—'जो कोई भी (प्राणी) इस वनस्पति पर स्थित हो मैं उसी की शरण में आया हूँ, वह शीत से पीडित और भूख से मूर्च्छितप्राय मेरी रक्षा करे' ॥ १४२–१४३ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।
भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४४ ॥

उसी वृक्ष की एक शाखा पर कोई कबूतर बहुत दिनों से रहता था। वह (इस समय) पत्नी-वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगा ॥ १४४ ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम ॥ १४५ ॥

वायुसहित बड़ी वर्षा हो रही थी और मेरी प्रियपत्नी आई नहीं (कहीं उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया) उससे रहित आज मेरा यह घर सूना सा प्रतीत होता है ॥ १४५ ॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १४६ ॥

साध्वी, प्राणों के समान पति को चाहने वाली और पति के प्रिय तथा हितकारी कार्य में तत्पर स्त्री जिस पुरुष की पत्नी हो वह पुरुष इस संसार में धन्य है ॥ १४६ ॥

'न गृहं गृह'मित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १४७ ॥

घर (मकान) को विद्वान् लोग घर नहीं कहते, पत्नी ही घर कहलाती है क्योंकि भार्या-शून्य गृह वन के समान होता है ॥ १४७ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यं चेदमथाऽऽह सा ॥ १४८ ॥

तब पींजड़े में बैठी हुई कबूतरी पति के दुःखपूर्ण वचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और यह वचन कहने लगी ॥ १४८ ॥

'न सा स्त्री'त्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १४९ ॥

जिस स्त्री पर पति प्रसन्न नहीं होता उसे स्त्री नहीं मानना चाहिए। पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों के सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तबका लता ।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति ॥ १५० ॥

जिस स्त्री पर पति की प्रीति नहीं वह स्त्री वन की अग्नि से फूलों के गुच्छों के सहित जली हुई लता के समान भस्म हो जावे ॥ १५० ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ १५१ ॥

पिता, भाई और पुत्र ये सब स्त्रियों को परमित (सुख और धन) ही देते हैं परन्तु अपरिमित (धन और सुख) के देने वाले पति की कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी ॥ १५१ ॥

पुनश्चाब्रवीत्—

शृणुष्वावहितः कान्त ! यत्ते वदयाम्यहं हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १५२ ॥

हे प्रिय ! तुम्हारा हितकारी वचन जो मैं कर रही हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो । शरण में आये हुए जन की रक्षा तुम्हें अपने प्राण देकर भी करनी चाहिए ॥

एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५३ ॥

सर्दी और भूख से पीडित यह व्याध तेरे घर आकर जमीन पर पड़ा है तुम इसकी पूजा करो ॥ १५३ ॥

श्रूयते च—

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५४ ॥

जो मनुष्य सायङ्काल के समय घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं करता वह उसको अपना पाप देकर उसका पुण्य ले लेता है ॥ १५४ ॥

मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धाऽनेनेति मत्प्रिया ।
स्वकृतैरेव बद्धाऽहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १५५ ॥

और, तुम इस पर द्वेष मत करो कि इसने मेरी प्रिया को बांधा है क्योंकि मैं तो अपने ही पूर्व किये हुए कर्मरूपी पाशों से बंधी हूँ ॥ १५५ ॥

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १५६ ॥

दरिद्रता, बीमारी और दुःख तथा पाश आदि में बंधना और विपत्तियां, ये सब प्राणियों को अपने अपराध (दोष) रूपी वृक्ष के फल भोगने पड़ते हैं ॥ १५६ ॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि ॥ १५७ ॥

इसलिये तुम मेरे वन्धन में पड़ने के कारण उत्पन्न द्वेष छोड़कर और अपने कर्तव्य में मन लगाकर इस व्याध की शास्त्रानुसार पूजा करो ॥१५७॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥ १५८ ॥

अनन्तर अपनी पत्नी कपोती के धर्म और युक्ति से परिपूर्ण उस वचन को सुनकर वह कबूतर व्याध के पास जा नम्रतापूर्वक बोला ॥ १५८ ॥

भद्र ! सुस्वागतं तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ १५९ ॥

हे भद्र ! आपका स्वागत हो, आप कहें, मैं आपका क्या कार्य करूँ, आप अपने मनमें खेद न करें, आप अपने ही घर में स्थित हैं ॥ १५९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गमम् ।
कपोत ! खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥ १६० ॥

उसका यह वचन सुन वह व्याध पक्षी से बोला—हे कपोत ! मुझे सर्दी सता रही है अतः शीत से मेरी रक्षा करो ॥ १६० ॥

स गत्वाऽऽङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६१ ॥

तब वह कबूतर कहीं जाकर एक अंगारा ले आया और उसने सूखे पत्तों पर उसे डाल दिया और शीघ्र ही प्रज्वलित कर दिया ॥ १६१ ॥

सुसन्दीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ॥ १६२ ॥

अनन्तर अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त कर उस कपोत ने अतिथि से कहा—हे अतिथे ! तुम निर्भय हो अच्छी तरह अपने अङ्ग को सेको ॥ १६२ ॥

उञ्छतेन च जीवामो वयं सर्वे वनौकसः ।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६३ ॥

हम सब वनवासी दैवयोग से प्राप्त वस्तु पर निर्भर रहते हैं इसलिये मेरे पास कुछ सम्पत्ति नहीं है जिससे तुम्हारी भूख मिटा सकूँ ॥ १६३ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः ।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्माऽपि दुर्भरः ॥ १६४ ॥

कोई पुरुष हजार, कोई सौ और कोई दस प्राणियों का पालन करता है । मैंने

कोई पुण्य कार्य नहीं किया इसलिये मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपना पेट भी मुश्किल से भर पाता हूँ ॥ १६४ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान् ।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ? ॥ १६५ ॥

जो पुरुष एक भी अतिथि को भोजन देने की शक्ति नहीं रखता, उस पुरुष के अनेक दुःखों से परिपूर्ण घर में रहने से क्या लाभ ? ॥ १६५ ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम् ।
यथा भूयो न वक्ष्यामि 'नास्ती'त्यर्थिसमागमे ॥ १६६ ॥

इसलिये दुःखपरिपूर्ण इस शरीर को ऐसा कर दूँ (नष्ट कर दूँ) जिससे फिर कभी याचकों के आने पर 'नहीं है' ऐसा न कहूँ ॥ १६६ ॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १६७ ॥

उस कबूतर ने अपनी ही निन्दा की (अतिथि को भोजन न दे सकने के कारण) परन्तु (स्त्री को पकड़ने पर भी) उस व्याध की निन्दा न की । तुम थोड़ी देर प्रतीक्षा करो मैं तुम्हें तृप्त करूँगा ॥ १६७ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं संपरिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १६८ ॥

धर्मात्मा वह कबूतर ऐसा कहकर प्रसन्न मन से उस अग्नि की प्रदक्षिणा कर अपने घर के समान उसमें प्रविष्ट हुआ ॥ १६८ ॥

ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १६९ ॥

अनन्तर अग्नि में गिरा हुआ उस कबूतर को देखकर व्याध को उस पर बड़ी दया आई और वह यह कहने लगा ॥ १६९ ॥

यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥ १७० ॥

जो मनुष्य पाप करता है निश्चय ही उसे अपना आत्मा प्रिय नहीं है क्योंकि स्वयं किया हुआ पाप स्वयं ही भोगना पड़ता है । (पाप का फल हमेशा दुःख ही होता है और दुःख कोई भोगना नहीं चाहता, यदि आत्मा प्रिय हो तो उसे दुःख भोगने का साधन क्यों उपस्थित करे) ॥ १७० ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा ।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः ॥ १७१ ॥

दुष्ट बुद्धि और सदा दुष्कर्म में फंसा हुआ मैं महाभयङ्कर नरक मे गिरूँगा इस में जरा भी सन्देह नहीं है ॥ १७१ ॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः ।
प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १७२ ॥

निश्चय ही इस महात्मा कपोत ने अपना मांस (मुझे) देते हुए मुझ निर्दयी के सामने (दया का) एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया ॥ १७२ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम् ।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मः शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥ १७३ ॥

आज से मैं भी सब प्रकार के सुख भोग छोड़ कर अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दूँगा जैसे कि ग्रीष्म ऋतु थोड़े पानी को सुखा देती है ॥ १७३ ॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ १७४ ॥

अब मैं सर्दी, वायु और गरमी सहता हुआ, शरीर को कृश करके अपने देह की स्वच्छता की भी परवाह न करके नाना प्रकार के उपवासों द्वारा धर्म का पालन करूँगा ॥ १७४ ॥

ततो यष्टिं शलाकां च जालकं पञ्जरं तथा ।
बभञ्ज लुब्धको दीनां कपोतीञ्च मुमोच ताम् ॥ १७५ ॥

अपना विचार स्थिर करके उस बहेलिया ने लाठी, शलाका, जाल तथा पींजरा तोड़ दिया और उस दीन कबूतरी को भी छोड़ दिया ॥ १७५ ॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाऽग्नौ पतितं पतिम् ।
कपोती विललापार्त्ता शोकसन्तप्तमानसा ॥ १७६ ॥

अनन्तर जब बहेलिया ने उस कबूतरी को छोड़ दिया तब वह अग्नि में पड़े हुए पति को देख, दुःखी हो शोक के कारण व्याकुल मन से विलाप करने लगी ॥

न कार्यमद्य मे नाथ ! जीवितेन त्वया विना ।
दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्या जीविते फलम् ॥ १७७ ॥

हे स्वामिन्! आज आपके बिना मेरे जीने का कोई फल नहीं है क्योंकि पति से विमुक्त अत एव दीन स्त्री के प्राणधारण से क्या लाभ है?॥ १७७॥

मानो दर्पस्त्वहंकारः कुलं पूजा च बन्धुषु।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥ १७८ ॥

वैधव्य से स्त्रियों का मानसिक तेज (तेजस्विता), (धनादिका) गर्व, उत्तम वंश में उत्पन्न होना, कुटुम्बिजनों का (अपने प्रति) आदरभाव और नौकर-चाकरों पर प्रभुत्व यह सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ १७८ ॥

एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता।
पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ॥ १७९ ॥

अत्यन्त दुःखित पतिव्रता वह कपोती इस प्रकार बारंबार दीनतापूर्वक विलाप करके जलती हुई उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गई ॥ १७९ ॥

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता।
भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १८० ॥

अनन्तर उस कबूतरी ने दिव्य वस्त्र धारण कर और मनोहर भूषणों से अलङ्कृत हो विमान में बैठे हुए अपने पति को देखा ॥ १८० ॥

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत्।
अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे! त्वया ॥ १८१ ॥

वह कबूतर भी दिव्य शरीर धारण करके शास्त्रानुसारी यह वचन कहने लगा-हे शुभे! तुमने मेरा अनुसरण करते हुए बहुत अच्छा किया ॥ १८१ ॥

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥ १८२ ॥

जो स्त्री (मृत) पति का अनुसरण करती है वह साढ़े तीन करोड़ जितने कि मनुष्य शरीर में रोम (बाल) है उतने समय (वर्ष) तक स्वर्ग में रहती है ॥

कपोतदेहः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत्।
कपोतदेहवत्सासीत् प्राक्पुण्यप्रभवं हितम् ॥ १८३ ॥

वह दिव्य शरीरधारी कपोत सूर्यास्त होने पर रात्रि में (भी) प्रतिदिन आनन्द भोगता था और वह कबूतरी भी अपने पति के समान सुख भोगने लगी क्योंकि उन दिनों को वह दिव्य शरीर पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से मिला था ॥

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान् भृशम् ॥ १८४ ॥

अनन्तर प्रसन्नचित्त वह व्याध (संसार के प्रति) अत्यन्त विरक्त हो प्राणिहिंसा छोड़कर (तप करने के लिये) घने वन में प्रविष्ट हुआ ॥ १८४ ॥

तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८५ ॥

उस व्याध की सब वासनाएँ (इच्छाएँ) निवृत्त हो चुकी थीं अतः वह उस वन में दावानल देख उसमें प्रविष्ट हो गया और सब पापों से मुक्त हो स्वर्ग का आनन्द भोगने लगा ॥ १८५ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'श्रूयते हि कपोतेन' इत्यादि ।

तच्छ्रुत्वारिमर्दनो दीप्ताक्षं पृष्टवान्—'एवमवस्थिते किं भवान् मन्यते ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! न हन्तव्य एवायम् ।

इसलिये मैं कहता हूँ—'सुना जाता है कि कबूतर ने' इत्यादि ।

यह सुनकर अरिमर्दन ने दीप्ताक्ष से पूछा—'ऐसी दशा में आपकी क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह मारने योग्य नहीं है ।'

यत.—

या ममोद्विजते नित्यं सा ममाद्याऽवगूहते ।
प्रियकारक ! भद्रन्ते यन्ममाऽस्ति हरस्व तत् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जो मुझे दुखित करती थी (वृद्धपति होने के कारण घृणा करती थी और कभी मुझसे अच्छी तरह बोलती भी नहीं थी) वह आज मुझे (तुम्हारे भय के कारण) इस प्रकार गाढ आलिङ्गन कर रही है । इसलिये हे प्रिय करने वाले (चोर !) जो वस्तु मेरे घर में है उन सबको चुरा ले जाओ और तुम्हारा कल्याण हो ॥ १८६ ॥

चौरेण चाऽप्युक्तम्—

हर्तव्यं तेन पश्यामि हर्तव्यं चेद्भविष्यति ।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नाऽवगूहते ॥ १८७ ॥

यह सुनकर चोरने भी कहा :—

(हे सेठ जी !) इस समय आपके घर में चुराने योग्य कोई वस्तु नहीं देखता हूँ । जब तुम्हारे घर में चुराने योग्य वस्तु होगी तो मैं उसे चुराने के लिये

फिर आऊँगा। यदि यह तुम्हारी स्त्री तुम्हें आलिङ्गन न करे। [जब यह तुम्हारी स्त्री तुमको आलिङ्गन और प्यार नहीं करेगी तब मैं चुराने के लिये तुम्हारे घर आऊँगा। ऐसा उत्तर देकर चोर गया। उसके भय से भयभीत होकर वह स्त्री अपने पति से सदा प्रेम करने लगी] ॥ १८७ ॥

अरिमर्दनः पृष्ठवान्-'का च नाऽवगूहते ?, कश्चाऽयं चौरः ?, इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।' दीप्ताक्षः कथयति—

अरिमर्दन ने पूछा :—'हे भद्र ! कौन आलिङ्गन नहीं करती है और यह चोर भी कौन है ? यह विस्तारपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ।' दीप्ताक्ष ने कहा :—

कथा ८

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिक्। तेन च कामोपहृतचेतसा, मृतभार्येण काचिन्निर्धनवणिक्सुता, प्रभूतं धनं दत्त्वोद्वाहिता। अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक। युक्तञ्चैतत्—

किसी नगर में कामातुर नामक वृद्ध बनिया रहता था। उसकी पहली स्त्री मर गई थी, उसकी बुद्धि काम-वासना से नष्ट हो गयी थी। इसलिये उस बनिये ने किसी दरिद्र बनियेको अधिक धन देकर उसकी कन्या से विवाह किया था। वृद्ध से विवाह होने के कारण वह स्त्री बहुत दुखित थी और उस वृद्ध पति बनिये को देखना भी नहीं चाहती थी। यह ठीक ही है :—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम्।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः॥

वृद्ध होने के कारण जिस मनुष्य के सिर के बालों पर श्वेतता आ जाती है वही युवतियों के परम अपमान और तिरस्कार का स्थान होता है। श्वेततायुक्त अस्थिखण्डमात्र अवशिष्ट उस वृद्ध को युवतियाँ इस प्रकार त्याग देती हैं जिस प्रकार प्यास से व्याकुल पुरुष चाण्डाल (डोम, चमार) के कुएँ को उस पर अस्थिखण्ड देखकर त्याग देते हैं। [प्राचीनकाल में छोटे जाति के कुएँ पर हड्डी रखी जाती थी। जिसे देखकर लोग समझ जाते थे कि यह नीच जाति का कुआं है ॥ १८८ ॥

तथा च—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशङ्गता
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहतं वक्त्रञ्च लालायते।

वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
धिक्कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते॥ १८६॥

और भी–वृद्ध होने पर मनुष्य का शरीर संकुचित हो जाता है, गति धीमी हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं, आँखें से नहीं दीखती हैं, रूप–सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, मुख से लार बहने लगती है, भाई–बन्धु लोग उसके वचन को नहीं सुनते हैं, पत्नी सेवा नहीं करती है और पुत्र भी उसको तिरस्कार करता है। ऐसी कष्टदायिनी वृद्धावस्था से तिरस्कृत पुरुष को अधिक कष्ट होता है। इसलिये दुःखदायिनी वृद्धावस्थाको धिक्कार है॥ १८९॥

अथ कदाचित् सा तेन सहैकशयने पराङ्मुखी यावत्तिष्ठति तावद् गृहे चौरः प्रवृष्टः। साऽपि तं चौरं दृष्ट्वा भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं पतिं गाढं समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात् पुलकाञ्चितसर्वगात्रश्चिन्तयामास–'अहो! किमेषा मामद्यावगूहते?' यावन्निपुणतया पश्यति तावद् गृह-कोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा, व्यचिन्तयत्–'नूनमेषाऽस्य भयान्ममालिङ्गति' इति ज्ञात्वा तं चौरमाह–'या ममोद्विजते' इत्यादि।

किसी दिन एक शय्या पर उस बनिये की स्त्री उस बनिये के साथ अपना मुँह फेरकर सोई थी। उसी समय घर में एक चोर घुसा। बनिये की स्त्री ने चोर को देखकर भय से आकुल–व्याकुल होकर सहसा वृद्ध भी उस पति को गाढ आलिङ्गन किया। वह भी आश्चर्य से चकित होकर सोचने लगा—'क्यों यह आज मुझे इस तरह गाढ आलिङ्गन कर रही है?' जब वह अच्छी तरह इधर उधर देखता है तो घर के एक कोने में उसने चोर को देखा और विचार किया—'निश्चय ही इसने इसके भय से मुझे आलिङ्गन किया है।' यह जानकर उसने चोर से कहाः—

जो मुझे दुखित करती थी–इत्यादि (पृ. ६१ देखें)

तच्छ्रुत्वा चौरोप्याह—

'हर्तव्यंते न पश्यामि' इत्यादि।

बनिये के वचन को सुनकर चोर ने कहा—

हे सेठ जी! इस समय आपके घर में–इत्यादि (पृ. ६१ देखें)

तस्माच्चौरस्याप्युपकारिणः श्रेयश्चिन्त्यते किं पुनः शरणागतस्य। अपि

चायं तैवप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति। अनेन कारणेनायमवध्य इति।'

एतदाकर्ण्याऽरिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं पप्रच्छ—'भद्र ! साम्प्रतमेवं स्थिते किं करणीयमिति ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! अवध्योऽयम्।' यतः—

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम्।
चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम्॥ १९०॥

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' वक्रनासः कथयति—

इसलिये उपकारी चोर की भी मंगल-कामना की जाती है फिर शरणागत का तो कहना ही क्या है ? दूसरी बात यह भी है कि वे कुपित होंगे तो हमारा ही लाभदायक होगा और उनके छिद्रों (कमजोरियों) का भी हमें ज्ञान होगा। इसलिये यह अवध्य ही है।'

यह सुन अरिमर्दन ने दूसरे वक्रनास नामक मन्त्री से पूछा—'भद्र ! ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ?' वह बोला—'हे देव ! यह अवध्य है' क्योंकि—

परस्पर विवाद करते हुए शत्रु भी हितकारी होते हैं जैसे चोर ने जीवन दान दिया और राक्षस ने दो बैल बचाये॥ १९०॥

अरिमर्दन ने पूछा—'यह कैसे ?' वक्रनासने कहा—

कथा ९

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणः, प्रतिग्रहधनः, सततं विशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जितः, प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचितः, शीतोष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः। तस्य च केनापि यजमानेनानुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम्। ब्राह्मणेन च बालभावादारभ्य याचितघृततैलयवसादिभिः संवर्ध्य सुपुष्टं कृतम्। तच्च दृष्ट्वा सहसैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्—'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि' इति निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा, यावत्प्रस्थितस्तावदर्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपंक्तिरुन्नतनासावंशः, प्रकटरक्तान्तनयनः, उपचितस्नायुसन्तततनतगात्रः शुष्ककपोलः सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चिद् दृष्टः। दृष्ट्वा च तं तीव्रभयत्रस्तोऽपि

चौरोऽब्रवीत्—'को भवान्' इति। स आह—'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः। भवानप्यात्मानं निवेदयतु।' सोऽब्रवीत्—'अहं क्रूरकर्मा चौरो दरिद्र-ब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि।' अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—'भद्र! षष्ठाह्नकालिकोऽहम्, अतस्तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि; तत्सुन्दरमिदम्, एककार्यावेवावाम्।' अथ तौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ। प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—'भद्र! नैष न्यायो यतो गोयुगे मयाऽपहृते पश्चात्त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय।' सोऽब्रवीत्—'कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत तदाऽनर्थकोऽयं ममारम्भः स्यात्।' चौरोऽप्यब्रवीत्—'तवापि यदि भक्षणायोपस्थितस्य एकोऽप्यन्तरायः स्यात्, तदाऽहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम्। अतः प्रथमं मयापहृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः।' इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार। अथ तं चौरोऽब्रवीत्—'ब्राह्मण! त्वामेवायं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति' इति। राक्षसोऽप्याह—'ब्राह्मण! चौरोऽयं गोयुगं तेऽपहर्तुमिच्छति।' एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसाद्, उद्गूर्णलगुडेन च चौराद्गोयुगं ररक्ष। अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रवोऽपि हितायैव' इति।

किसी स्थान में द्रोण नाम का एक गरीब ब्राह्मण रहता था, दान लेना ही उसकी जीविका थी। उसे कभी भी उत्तम-उत्तम वस्त्र, उबटन आदि लेपन द्रव्य, सुगन्धित (इत्र आदि) वस्तु, मालाएँ और पान आदि भोगने के लिये न मिलते थे। बढ़े हुए बाल, दाढ़ी, मूँछ, नाखून और रोमों (शरीर के बाल) से उसका शरीर भर गया था तथा सर्दी, गरमी, हवा और वर्षादि के सहन करने से उसका देह कृश हो गया था। किसी यजमान ने कृपा कर उसे दो बछड़े दिये। ब्राह्मण ने उन्हें मांगे हुए घी, तैल और घास आदि के द्वारा खूब हृष्ट-पुष्ट कर लिया। उन (बछड़ों) पर दृष्टि पड़ते ही किसी चोर ने सोचा—'मैं इस ब्राह्मण के इन बछड़ों को चुराऊँगा' यह निश्चय कर रात्रि के समय हाथ में बांधने की रस्सी लेकर चल पड़ा। आधी दूर ही पहुँचा था कि उसे रास्ते में कोई (मनुष्य) मिला। उसके नोकीले दांतों की पंक्ति अधिक घनी न थी। उसकी नाक ऊँची थी,

नेत्रों के किनारे लाल चमकते हुए थे, कृश होने के कारण शरीर की नसें बाहर निकली हुई थीं, शरीर झुक रहा था, गाल बैठे हुए थे, उसके शरीर में दाढ़ी और सिर के बाल जलती हुई अग्नि के समान पीले थे। उसको देख कर यद्यपि चोर बहुत डर गया था तो भी बोला—'आप कौन हैं?' उसने कहा—'मैं सत्यवचन नामक ब्रह्मराक्षस हूँ। आप भी अपना परिचय दें (श० आप भी अपने को बतावें)।' वह बोला-'मैं कठोर कर्म करने वाला चोर हूँ। एक गरीब ब्राह्मण के दो बछड़े चुराने के लिये जा रहा हूँ।' तब विश्वस्त हो राक्षस ने कहा—'मेरा दिन के छठें भाग (सायङ्काल) में भोजन करने का नियम है (पाठान्तर में-दो दिन भोजन न करके तीसरे दिन के सायङ्काल के समय भोजन करने वाला। दिन में दो समय भोजन करने के होते हैं। इसलिये छठा समय तीसरे दिन का सायङ्काल होगा) अतः आज उसी ब्राह्मण को खाऊँगा। इसलिये यह बहुत अच्छा हुआ कि (दोनों साथ ही चल रहे हैं क्योंकि) हम दोनों का कार्य समान ही है। अनन्तर वे दोनों वहां (ब्राह्मण के घर) जाकर सुअवसर की प्रतीक्षा करते हुए एकान्त में खड़े हो गये। ब्राह्मण के सो जाने पर जब राक्षस उसे खाने चला तब चोर ने कहा—'यह उचित नहीं है, पहिले मैं जब बछड़ों को ले जाऊँ तब तुम इस ब्राह्मण को खाना।' उसने कहा—'अगर यह ब्राह्मण बछड़ों के शब्द से जाग गया तो मेरा यह उद्योग निष्फल हो जायगा।' चोर ने कहा—'तुम्हारे भी खाने के बीच में अगर कोई विघ्न उपस्थित हो गया तो मैं भी इन बछड़ों को नहीं चुरा सकता। इसलिये प्रथम मेरे बछड़ों के ले जाने पर पीछे तुम ब्राह्मण को खाना।' इस प्रकार अहमहमिकापूर्वक जब वे विवाद करते हुए लड़ने लगे तब उनके शोर के कारण ब्राह्मण जाग गया। उससे चोर ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह राक्षस तुम्हें ही खाना चाहता है।' राक्षस ने भी कहा—'हे ब्राह्मण! यह चोर तुम्हारे बछड़े को चुराना चाहता है।' यह सुन कर ब्राह्मण उठ कर सावधान हो गया और उसने इष्टदेवता तथा मन्त्रों के ध्यान से अपने को राक्षस से बचा लिया तथा दण्डे से अपने बछड़ों को चोर से बचा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'शत्रु लोग भी हितकारी होते हैं' इत्यादि।

अथ तस्य वचनमवधार्यारिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छत्—'कथय, किमत्र मन्यते भवान्?' सोऽब्रवीत्-'देव! अवध्य एवायम्, यतो

रक्षितेनानेन कदाचित्परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति ।' उक्तं च—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ १९१ ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' प्राकारकर्णः कथयति—

उसका वचन सुन कर अरिमर्दन ने फिर भी प्राकारकर्ण से पूछा—'कहिये, इस विषय में आपकी क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह अवध्य ही है क्योंकि यह सम्भव है कि कदाचित् इसकी रक्षा करने से आपस में प्रीतिपूर्वक समय व्यतीत होने लगे ।' कहा भी है:—

जो प्राणी एक दूसरे की गोप्य बातों की रक्षा नहीं करते वे लोग ही वल्मीक के अन्दर में स्थित सर्पों के समान मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ १९१ ॥

अरिमर्दन ने पूछा–'यह कैसे ?' प्राकारकर्ण ने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा । तस्य च पुत्रो जठरवल्मीकाश्रयेणोरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते । अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्याऽपि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमेति । अथासौ राजपुत्रो निर्वेदाद्देशान्तरं गतः । कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति । अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजाऽऽस्ते । तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः । तत्र चैकाऽब्रवीत्—'विजयस्व महाराज ! यस्य प्रसादात्सर्वं सुख लभ्यते ।' द्वितीया तु–'विहितं भुङ्क्ष्व महाराज !' इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजाऽब्रवीत्—'भो मन्त्रिणः ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद्वैदेशिकस्य प्रयच्छत येन निजविहितमियमेव भुङ्क्ते ।' अथ 'तथा' इति प्रतिपद्याल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिस्तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । साऽपि प्रहृष्टमनसा तं पतिं देववत्प्रतिपद्यादाय चान्यविषयं गता । ततः कस्मिंश्चिद्दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षायै निरूप्य स्वयं च घृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता । कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति तावत्स राजपुत्रो वल्मीकोपरि कृतमूर्धा प्रसुप्तः । तस्य च मुखाद्भुजगः

फणां निष्कास्य वायुमश्नाति। तत्रैव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथैवासीत्। अथ तयोः परस्परदर्शनेन क्रोधसंरक्तलोचनयोर्मध्याद्वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्तम्—'भो भोः! दुरात्मन्! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि?' मुखस्थोऽहिरब्रवीत्—'भो भोः! त्वयाऽपि दुरात्मनाऽस्य वल्मीकस्य मध्ये कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम्' इत्येवं परस्परस्य मर्माण्युद्घाटितवन्तौ। पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—'भोः! दुरात्मन्! भेषजमिदं ते किं कोऽपि न जानाति यज्जीर्णोत्कालितकाञ्जिकाराजिकापानेन भवान्विनाशमुपयाति।' अथोदरस्थोऽहिरब्रवीत्—'तवाऽप्येतद्भेषजं किं कश्चिदपि न वेत्ति यदुष्णतैलेन महोष्णोदकेन वा तव विनाशः स्यादि'ति। एवं च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परालापान्मर्ममयानाकर्ण्य तथैवानुष्ठितवती। विधायाव्यङ्गं नीरोगं भर्त्तारं निधिं च परममासाद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात्। पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेनावस्थिता। अतोऽहं ब्रवीमि-'परस्परस्य मर्माणि' इति।

किसी नगर में देवशक्ति नाम का राजा रहता था। उसका एक पुत्र था जिसके पेटरूपी बमई में एक सांप रहता था जिसके कारण उसका प्रतिदिन प्रत्येक अंग क्षीण होता जाता था। अच्छे वैद्यों द्वारा अनेक तरह से आयुर्वेदादि उत्तम शास्त्रों में निर्दिष्ट औषधियों का प्रयोग करके चिकित्सा किये जाने पर भी वह स्वस्थ न हुआ। तब वह राजपुत्र विरक्त हो दूसरे देश को चला गया। वह किसी नगर में भीख मांग कर एक बड़े मन्दिर में समय बिताने लगा। उस शहर में बलि नाम का राजा रहता था। उसकी दो युवती लड़कियां थीं। वे प्रतिदिन सूर्योदय के समय पिता के पास आकर प्रणाम किया करती थीं। उस समय उनमें से एक कहती थी—'हे महाराज! आप की विजय हो जिनकी कृपा से सब प्रकार का सुख मिलता है।' और दूसरी—'हे महाराज! अपने किये हुए को भोगो' कहा करती थी। यह सुन कर राजा क्रुद्ध होकर बोला—'हे मन्त्रियो! कटु भाषण करने वाली इस लड़की को किसी विदेशी को दे दो जिससे यही अपने किये हुए को भोगे।' तब मन्त्रियों ने 'बहुत अच्छा' कह कर थोड़े से परिवार के साथ उस कुमारी को देवकुल में रहने वाले उस राजपुत्र को सौंप दिया। वह (कुमारी) भी प्रसन्न चित्त से उस पति को देवता के समान मान कर अपने साथ दूसरे देश

को ले गई। वहां किसी अत्यन्त दूर शहर में तालाब के किनारे राजपुत्र को स्थान की रक्षा करने के लिये नियुक्त कर स्वयं घी, तेल, नमक, चावल आदि खरीदने को परिवार सहित गई। जब तक वह खरीद-बेच कर लौटी तब तक इधर वह राजपुत्र वमई (वल्मीक) के ऊपर सिर रखकर सो गया। एक सर्प उसके मुख से फन निकाल कर वायु-सेवन करने लगा। (उसी समय) वल्मीक से दूसरा सांप निकल कर उसी तरह (वायु सेवन करने लगा)। एक दूसरे को देखने से उन दोनों के नेत्र लाल हो गये, वल्मीकस्थ सर्प ने कहा—'अरे दुष्ट! सर्वाङ्गसुन्दर इस राजपुत्र को इस तरह क्यों पीडित करता है।' मुख-स्थित सर्प बोला—'रे दुरात्मन्! तूने भी इस वल्मीक में रखे हुए और सुवर्ण से भरे हुए इन दो कलशों को क्यों दूषित कर रखा है।' इस तरह उन दोनों ने एक दूसरे की गोप्य बातें प्रकाशित कर दीं। वल्मीक-स्थित सांप फिर कहने लगा—'अरे दुष्ट! क्या कोई भी तुम्हारी यह दवाई नहीं जानता कि पुरानी और उबाली हुई कांजी के साथ राई पिलाने से तुम्हारा विनाश होता है।' इस पर पेट में स्थित सर्प ने कहा—'क्या तुम्हारी भी इस दवाई को कोई नहीं जानता कि खौलते हुए तेल या अत्यन्त गरम पानीसे तुम्हारी मृत्यु होती है।' पेड़ों की आड़ में छिपी हुई राजकन्या ने एक दूसरे के मर्म को प्रकाशित करने वाली उनकी बातचीत सुनकर वैसा ही किया। इसके अनन्तर वह राजकन्या अपने पति को पूर्णाङ्ग और नीरोग करके तथा बड़ा भारी खजाना पाकर अपने देशको चली गई। तब माता, पिता और बन्धुगणोंसे सम्मानित होकर अपने कर्म-फल को भोगती हुई सुखसे रहने लगी। इसलिये मैं कहता हूँ-'जो एक दूसरे की गुप्त बातों की रक्षा नहीं करते' इत्यादि।

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिमर्दनोऽप्येवं समर्थितवान्। तथा चानुष्ठितं दृष्ट्वान्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्—'कष्टम्, विनाशितोऽयं भवद्भिरन्यायेन स्वामी।' उक्तं च—

यह सुन कर स्वयं अरिमर्दन ने भी इसी बात का (शरणागत की रक्षा का) ही अनुमोदन किया। जब रक्ताक्ष ने देखा कि ऐसा ही किया जा रहा है तब कुछ अन्दर ही अन्दर हंस कर कहा—'बड़ी दुःख की बात है कि आप लोगों ने अनीतिपूर्वक हमारे प्रभु का विनाश कर दिया। कहा भी है:—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां तु विमानना ।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥ १९२ ॥

जिस देश वा नगर में दुर्जनों का आदर और सज्जनों का तिरस्कार किया जाता है वहां दुर्भिक्ष, मृत्यु और भय ये तीन प्रवृत्त होते हैं ॥ १९२ ॥

तथा च—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत् ॥ १९३ ॥

मन्त्रिणः प्राहुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

और भी—प्रत्यक्ष (सामने) पाप करने पर भी मूर्ख मधुर वचन से (प्रमाण देकर उसको विश्वास दिलाने से) शान्त हो जाता है, जैसे रथकार (कारीगर) ने (जार 'यार' के साथ सोई हुई अपनी स्त्री को देखकर भी उसके प्रमाण पर विश्वास कर) जार के सहित अपनी स्त्री को शिर पर लेकर गाँव भर घुमाया ॥ १९३ ॥

मन्त्रियोंने पूछाः—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहाः—

कथा ११

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने वीरवरो नाम रथकारः। तस्य भार्या कामदमनी। सा च पुंश्चली जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्—'अथ मयास्याः परीक्षणं कर्तव्यम्।' उक्तं च यतः—

किसी नगर में वीरवर नामक रथकार (बढ़ई) रहता था। उसकी कामदमनी नाम की अत्यन्त कामासक्त स्त्री थी। वह बहुत व्यभिचारिणी थी और (गाँव भर) उसकी निन्दा हो चुकी थी। उस (वीरवर) ने भी उसकी परीक्षा लेनेका विचार किया:—'यह बात झूठ है या सच–इसकी परीक्षा मुझे करनी चाहिये।' क्योंकि कहा भी है:—

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः ।
स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्याद्दुर्जनो हितः ॥ १९४ ॥

यदि अग्नि ठण्डा हो अथवा चन्द्रमा गर्म हो और दुर्जन हितकारी हो तो स्त्रियों का सतीत्व रह सकता है ॥ १९४ ॥

जानामि चैनां लोकवचनादसतीम्। उक्तं च—

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम् ।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ १९५ ॥

लोग के कथनानुसार यह व्यभिचारिणी है। कहा भी है:—

जो बातें वेदों और शास्त्रों में भी नहीं देखी गई और न सुनी गई उन सब बातों को लोग जानते हैं चाहे वे ब्रह्माण्ड के किसी कोने में भी क्यों न हों॥ १९५॥

एवं संप्रधार्य भार्यामवोचत्—'प्रिये! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि। तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति। तत्त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम्।' सापि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्ता, औत्सुक्यात्सर्वकार्याणि संत्यज्य, सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत्।

यह विचार कर अपनी स्त्री से कहा—'हे प्रिये! कल सबेरे मैं दूसरे गाँव को जाऊंगा। वहाँ कुछ दिन लगेंगे। इसलिये तुम कुछ मेरे योग्य पाथेय (कलेवा) बना दो।' वह (व्यभिचारिणी स्त्री) उसके वचनको सुनकर प्रसन्न हुई, और उसने अत्यन्त उत्सुकता से सब गृहकार्य को छोड़कर घी और चीनी डालकर उत्तम सिद्धान्न (मालपूआ आदि) बना दिया।

अथवा साध्विदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः॥ १९८॥

अथवा यह ठीक ही कहा है:—

जब दिन मेघाच्छन्न हो, अन्धकार छा गया हो, मेघ घनघोर बरस रहा हो, घोर वन हो (शून्य स्थान और गृह हो) और पति परदेश गया हो तब व्यभिचारिणी स्त्रियों को अत्यन्त आनन्द होता है। (उस समय व्यभिचारिणी स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न होती हैं।)॥ १९६॥

अथासौ प्रत्युषे उत्थाय स्वगृहान्निर्गतः। सापि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित्तं दिवसमत्यवाहयत्। अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती—'स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तरं गतः। तत्त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम्।'

वह (रथकार) सबेरे उठकर घर से निकल गया। वह भी पति को परदेश गया समझ कर हंसती हुई स्नान और शृङ्गार से शरीर सजाकर किसी प्रकार दिनको बिताई। उसके बाद (शाम को) अपने यार के पास जाकर उससे कहने लगी—'वह दुष्ट मेरा पति परदेश गया है। इसलिये सब के सो जाने पर (रात में) हमारे घर आ जाना।'

तथानुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिबाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपद्वारेण प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः। एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्तः समागत्य तत्र शयने उपविष्टः। तं दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत्—'किमेनमुत्थाय हन्मि? अथवा हेलयैव प्रसुप्तौ द्वावप्येतौ व्यापादयामि? परं पश्यामि तावदस्याश्चेष्टितं, शृणोमि चानेन सहालापान्।'

यह कहकर वह अपने घर लौट आई। वह रथकार भी वन में दिन बिताकर सायंकाल अपने घर के पीछे से घुस कर खटिया के नीचे छिपकर बैठ गया। रात होने पर उस स्त्री का जार आकर उसी शय्या पर बैठा। उसे देखकर रथकारने अत्यन्त क्रोधित होते हुए विचार किया—'क्या मैं उठकर इस (दुष्ट) को अभी मार डालूँ? अथवा जब ये दोनों सो जायें तब एक साथ दोनों का मारें। किन्तु इसकी चेष्टाको देख लें और इसके साथ किस प्रकार बातचीत करती है उसे भी सुन लें।'

अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं पिधाय शयनतलमारुढा। तस्यास्तत्रारोहयन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्नः। ततः सा व्यचिन्तयत्—'नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम्। ततः स्त्रीचरित्रविज्ञानं किमपि करोमि।'

उसकी वह स्त्री गृह का द्वार धीरे से बन्द कर जार के सोये हुए शय्या पर चढ़ गयी। जब वह व्यभिचारिणी शय्या पर चढ़ रही थी। उसका पैर रथकार के शरीर से लग गया। तब उसने सोचा—'निश्चय ही इस दुष्ट रथकारने मेरी परीक्षा की है। इसलिये मैं भी स्त्रीचरित्र की विशेषता देखाती हूँ।'

एवं तस्याश्चिन्तयन्त्याः स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव। अथ तया कृताञ्जलिपुटयाऽभिहितं—'भो महानुभाव! न मे शरीरं त्वया स्पर्शनीयं यतोऽहं पतिव्रता महासती च। न चेच्छापं दत्त्वा त्वां भस्मसात्करिष्यामि।' स आह—'यद्येवं तर्हि त्वया किमहमाहूतः?' साऽब्रवीत्—'भोः! शृणुष्वैकाग्रमनाः—

वह स्त्री इस प्रकार चिन्ता कर रही थी कि उसका जार देवदत्त आलिङ्गनादि करने को उत्सुक हुआ (उसके शरीर पर यह आलिङ्गनादि करने के लिये हाथ बढ़ाया और छेड़-छाड़ करने लगा।) तब उस (रथकार) की स्त्रीने हाथ जोड़ कर कहाः—'हे महानुभाव! मेरे शरीर को तुम मत छुओ, क्योंकि मैं पतिव्रता और

सच्ची सती हूँ। यदि हठ से तुम छुओगे तो मैं शाप दे दूँगी, तुम भस्म हो जाओगे।' वह (जार) बोला—'यदि ऐसा रहा तो मुझे क्यों बुलाई?' वह कहती है:—'मेरी बात को एकाग्र होकर सुनो:—

अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता। तत्राकस्मात्खे वाणी सञ्जाता—'पुत्रि! किं करोमि? भक्तासि मे त्वं, परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यति।'

आज मैं सबेरे चण्डिका देवी के दर्शन के लिये गयी थी। वहाँ एकाएक आकाश वाणी हुई—'हे पुत्रि! क्या कहूँ? तुम मेरी बहुत भक्ता हो, परन्तु दैव-संयोग से ६ महीने के अन्दर ही तुम विधवा हो जाओगी।'

ततो मयाभिहितं—'भगवति! यथा त्वमापदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि। तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवी भवति?' ततस्तयाऽभिहितं—'वत्से! सन्नपि नास्ति, यतस्तवाऽऽयत्तः स प्रतीकारः।' तच्छ्रुत्वा मयाभिहितं—'देवि! यदि तन्मम प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि।'

मैंने देवी से कहा—'हे भगवति! जैसे आप विपत्ति को जानती हैं वैसे इसका प्रतीकार भी अवश्य जानती हैं। कोई ऐसा उभाय है कि जिससे मेरे पति सौ वर्ष तक जीते रहे?' तब उन्होंने कहा—'हे पुत्रि! उपाय है किन्तु वह नहीं के समान है। क्योंकि वह उपाय तुम्हारे ही अधीन है।' यह सुनकर मैंने कहा—'हे देवि! यदि उपाय है तो उसे बता दीजिये। मैं उसे प्राण लगाकर भी करूंगी।'

अथ देव्याभिहितं—'यद्यद्य परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्यालिङ्गनं करोषि तत्तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य सञ्चरति। भर्त्तापि ते पुनर्वर्षशतं जीवति। तेन त्वं मयाऽभ्यर्थितः। तद्यत्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व। न हि देवतावचमनन्यथा भविष्यतीति निश्चयः।' ततोऽन्तर्हासविकासमुखः स तदुचितमाचचार।

तब देवी जी ने कहा—'यदि आज परपुरुष के साथ एक ही शय्या पर बैठ कर आलिङ्गनादि करेगी तो तुम्हारे पति की अपमृत्यु नाश हो जायेगी। तुम्हारे पति भी सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे। इसलिये मैंने तुम्हें बुलाया है। अब तुम्हें जो कुछ करने की इच्छा है उसे करो। देवी का वचन अन्यथा नहीं हो सकता है—

यह मेरा निश्चय है। तब उस (जार) ने स्त्रीका चरित्र जानकर मन ही मन हंसते हुए प्रसन्नतापूर्वक कामोचित आलिङ्गन चुम्बन आदि कार्य किया।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाञ्चिततनुः शय्याधस्तलान्निष्क्रम्य तामुवाच—'साधु पतिव्रते ! साधु कुलनन्दिनि !! अहं दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वा खट्वाधस्तले निभृतं लीनः। तदेहि—आलिङ्ग माम्। त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणां, यदेवं ब्रह्मव्रतं परसङ्गेऽपि पालितवती ! 'मदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेवं कृतवती !' तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान्।'

वह मूर्ख रथकार उसकी स्त्रीचातुरी से युक्त वचन सुन कर रोमाञ्चित होते हुए शय्या के नीचे से निकल कर उस व्यभिचारिणी स्त्री से कहा:—'हे पतिव्रते ! तुम धन्य हो ! कुल को आनन्द देने वाली ! तुम धन्य हो !! मैं दुष्ट के वचनों से शङ्कित होकर तुम्हारी परीक्षा करने के लिये परदेश जाने का छल कर शय्या के नीचे छिपा हुआ था। इसलिये आओ, मुझे आलिङ्गन करो। तुम अपने पति में भक्ति रखने वाली स्त्रियों में मुख्य हो क्योंकि दूसरे के साथ एक शय्या पर सोकर भी तुमने अपना पातिव्रत धर्म का पालन किया है। 'मेरी अकालमृत्यु का नाश और आयु की वृद्धि के लिये तुमने यह कठिन काम (परपुरुष से आलिङ्गन आदि काम) किया। 'ऐसा कहकर उस मूर्ख ने प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्ग किया।'

स्वस्कन्धे तामारोप्य तमपि देवदत्तमुवाच—'भो महानुभाव ! मत्पुण्यैस्त्वमिहाऽऽगतः। त्वत्प्रसादान्मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः। तत्त्वमपि ममालिङ्ग्य मत्स्कन्धे समारोह' इति जल्पन्ननिच्छन्तमपि देवदत्तमालिङ्ग्य बलात्स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्।

ततश्च नृत्यं कृत्वा 'हे ब्रह्मव्रतधराणां धुरीणः ! त्वयाऽपि मय्युपकृतम्'— इत्याद्युक्त्वा स्कन्धादुत्तार्य यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारादिषु बभ्राम तत्र तत्र तयोरुभयोरपि तद्गुणवर्णनमकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इति।

अपने कन्धे पर अपनी व्यभिचारिणी स्त्री को लेकर उस देवदत्त (जार) से कहा—'हे महानुभाव ! मेरे भाग्य से आप यहाँ आये हैं। आपके प्रसाद से ही मैंने सौ वर्ष का जीवन प्राप्त किया। इसलिये आप भी मुझे आलिङ्गन करें और मेरे कन्धे पर बैठें। यह कहते हुए इच्छा नहीं करने वाले देवदत्त को

आलिङ्गन करके जबर्जस्ती कन्धे पर बैठा लिया। तब नाच कर 'हे ब्रह्मव्रत (परोपकार व्रत) धारण करने वालों में श्रेष्ठ ! आपने भी मेरा उपकार किया है। यह कह कर कन्धे से उतार कर जहाँ-जहाँ अपने स्वजनों के घर के दरबाजे पर गया वहाँ-वहाँ उन दोनों का गुणवर्णन करता रहा।

इसलिये मैं कहता हूँ कि—'प्रत्यक्ष पाप करने पर भी' (पृ. ७०)।

तत्सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः। सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः॥ १९७॥

इस (आप लोग की मूर्खता) से हम सब मूल से ही नष्टहो जायें गें। यह ठीक ही कहा हैः—

जो मनुष्य हितवचन न कहकर अहित का उपदेश करते हैं। (अथवा जो मनुष्य भलाई की बात पर ध्यान न देकर उसके विपरीत ही आचरण करते हैं।) विज्ञ पुरुष निश्चय ही उनको मित्ररूपधारी शत्रु समझते हैं॥ १९७॥

तथा च—

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः।
अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा॥ १९८॥

राजनीति में दुर्बुद्धि (अपटु) मन्त्रियों को पाकर देश और काल के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा के विद्यमान भी अर्थ (धनादि पदार्थ) इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है॥ १९८॥

ततस्तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतुमारब्धाः। अथानीयमानः स्थिरजीव्याह—'देव! अद्याकिञ्चित्करेणैतदवस्थेन किं मयोपसंगृहीतेन? यत्कारणमिच्छामि दीप्तं वह्निमनुप्रवेष्टुम्। तदर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्तुम्।' अथ रक्ताक्षस्तस्यान्तर्गतभावं ज्ञात्वाऽऽह—'किमर्थमग्निपतनमिच्छसि?' सोऽब्रवीत्—'अहं तावद्युष्मदर्थमिमामापदं मेघवर्णेन प्रापितः। तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थमुलूकत्वमिति।' तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह—'भद्र! कुटिलस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च। त्वमुलूकयोनिगतोऽपि स्वकीयामेव वायसयोनिं बहु मन्यसे। श्रूयते चैतदाख्यानकम्।

अनन्तर उस (रक्ताक्ष) के बात न मान कर वे सब स्थिरजीवी को उठा कर अपने दुर्ग में लाने लगे। तब लाये जाते हुए स्थिरजीवी ने कहा—हे देव! आज इस अवस्था में पड़ा हुआ मैं कुछ भी (आपकी भलाई) नहीं कर सकता फिर मेरे संग्रह करने से आपको क्या लाभ? इसलिये जलती हुई अग्नि में प्रवेश करना चाहता हूँ—मरना चाहता हूँ। इसलिये अग्निप्रदान करके (भस्म करके) मुझे (दुःखों से) छुड़ाइये। तब रक्ताक्ष उसके आन्तरिक भावों को समझ कर बोला—'तू किसलिये अग्नि में गिरना चाहता है?' उसने कहा—'आप लोगों के कारण ही मेघवर्ण ने मेरी यह दशा की है। इसलिये उससे अपने वैर का बदला लेने के लिये मैं उलूक होना चाहता हूँ।' यह सुन कर राजनीति-कुशल रक्ताक्ष ने कहा—'भद्र! तुम कुटिल तथा बनावटी बातों के कहने में बड़े चतुर हो, तुम उलूकयोनि को प्राप्त होकर भी अपनी वायस-जाति का ही आदर करोगे। इस विषय में यह उपाख्यान सुना जाता है :—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम्।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ १९९ ॥

मन्त्रिणः प्रोचुः—कथमेतत्? रक्ताक्षः कथयति—

एक मूषिका (चुहिया) सूर्य, मेघ, वायु और पर्वत को पति न बना कर अपनी जाति को प्राप्त हुई, अपनी जाति का छोड़ना अत्यन्त कठिन होता है ॥१९९॥

मन्त्रियों ने पूछा :—'यह कैसे?' रक्ताक्ष ने कहा :—

कथा ११

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शालङ्कायनो नाम तपोधनो जाह्नव्यां स्नानार्थं गतः। तस्य च सूर्योपस्थानं कुर्वतस्तत्र प्रदेशे मूषिका काचित्खरतरनखाग्रपुटेन श्येनेन गृहीता। तां दृष्ट्वा स मुनिः करुणार्द्रहृदयो 'मुञ्च मुञ्च'ेति कुर्वाणस्तस्योपरि पाषाणखण्डं प्राक्षिपत्। सोऽपि पाषाणखण्डप्रहारव्याकुलेन्द्रियो भ्रष्टमूषिको भूमौ निपपात। मूषिकाऽपि भयत्रस्ता कर्तव्यमजानती 'रक्ष रक्षे'ति जल्पन्ती मुनिचरणान्तिकमुपाविशत्। श्येनेनापि चेतनां लब्ध्वा मुनिरुक्तः—'यद्भो मुने! न युक्तमनुष्ठितं भवता यदहं पाषाणेन ताडितः। किं त्वमधर्मान्न बिभेषि? तत्समर्पय ममैनां मूषि-

१. अस्या कथायाः पूर्वभागो भिन्नोऽप्युपलभ्यते। तन्त्रान्ते निवेशितः स तत्रैव द्रष्टव्यः। पुस्तकद्वये चैषा कथा चतुर्थतन्त्र उपलभ्यते नत्विह प्रकरणसङ्गत्यास्माभिरिहैवोपनिवेशिता।

काम् । नो चेत्प्रभूतं पातकमवाप्स्यसि।' इति ब्रुवाणं श्येनं प्रोवाच सः-'भो विहङ्गाधम ! रक्षणीयाः प्राणिनां प्राणाः, दण्डनीया दुष्टाः, सम्माननीयाः साधवः, पूजनीया गुरवः, स्तुत्या देवाः तत्किमसम्बद्धं प्रजल्पसि ।' श्येन आह—'मुने ! न त्वं सूक्ष्मधर्मं वेत्सि। इह हि सर्वेषां प्राणिनां विधिना सृष्टिं कुर्वताहारोऽपि विनिर्मितः । ततो यथा भवतामन्नं तथाऽस्माकं मूषिकादयो विहिताः । तत्स्वाहारकाङ्क्षिणं मां किं दूषयसि ? उक्तं च—

किसी स्थान में शालङ्कायन नाम का एक तपस्वी (रहता था वह एक समय) गंगा में स्नान करने गया। जब कि वह सूर्य की पूजा कर रहा था उस समय उसी स्थान में (उसके पास गंगा के किनारे) कोई चुहिया तेज पञ्जों (नाखूनों) वाले बाज से पकड़ी गयी । उसको देख कर मुनि का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया, 'छोड़, छोड़' ऐसा कहते हुए उस (मुनि) ने उसके (बाज के) ऊपर एक पत्थर का टुकड़ा फेंका। वह बाज पत्थर के टुकड़े की चोट से व्याकुल हो गया, मूषिका उससे छूट गई और वह स्वयं भी पृथ्वी पर गिर पड़ा । तब भयभीत हुई वह चुहिया किंकर्तव्यविमूढ़ होकर 'बचाओ, बचाओ' ऐसा कहती हुई मुनि के चरणों के पास आकर बैठ गई । बाज ने होश में आकर मुनि से कहा—'हे मुने ! मुझे पत्थर से मार कर आपने उचित नहीं किया, क्या आप अधर्म से नहीं डरते? यह मूषिका मुझे सौंप दें, नहीं तो आपको बड़ा भारी पाप होगा।' यह सुनकर मुनि ने कहा—'अरे नीच पक्षी! प्राणियों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। दुष्टों को दण्ड देना चाहिए, सज्जनों का आदर, गुरुओं का सत्कार और देवताओं की स्तुति करनी चाहिए फिर तू क्यो अनर्गल (बेतुकी) बातें करता है ।' श्येन ने कहा—'मुने ! आप धर्म की बारीकी नहीं समझते । इस संसार में प्राणियों की रचना करते हुए ब्रह्मा ने उनका भोजन भी बनाया है । जिस प्रकार आप लोगों के लिये अन्न, उसी प्रकार हम लोगों के लिये चूहे आदि बनाये हैं । इसलिये अपना भोजन चाहने वाले मुझ पर क्यों दोष लगाते हैं । 'कहा भी है—

यद्यस्य विहितं भोज्यं न तत्तस्य प्रदुष्यति ।
अभक्ष्ये बहुदोषः स्यात् तस्मात्कार्यो न व्यत्ययः ॥ २०० ॥

जिसके लिये जो वस्तु भोजनरूप से निर्दिष्ट की गई है उसके खाने पर उसे कोई पाप नहीं होता किन्तु अभक्ष्य वस्तु के खाने में बहुत पाप होता है इसलिये इसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिए ॥२००॥

भक्ष्यं यथा द्विजातीनां मद्यपानां यथा हविः।
भक्ष्यमभक्ष्यतामेति तथाऽन्येषामपि द्विज !॥ २०१॥

जिस तरह मद्य पीने वालों की पेय सुरा ब्राह्मणादि के लिये पेय (पीने योग्य) नहीं और जिस तरह ब्राह्मणादि का भोज्य (हवि यज्ञशेष) मद्य पीने वालों के लिये अभक्ष्य होता है, इसी तरह अन्य प्राणियों के भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था जाननी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु एक के लिये भक्ष्य हो सकती है वह दूसरे के लिये अभक्ष्य भी हो सकती है ॥ २०१ ॥

भक्ष्यं भक्षयतां श्रेयो अभक्ष्यन्तु महद्घम्।
तत्कथं मां वृथाचार ! त्वं दण्डयितुमर्हसि ॥ २०२ ॥

भक्ष्य का ही भक्षण करने वाले को महापुण्य और अभक्ष्य भक्षण करने वाले को महापाप होता है। इसलिये व्यर्थ ही आचार (दिखाने वाले) ब्राह्मण ! तुम मुझे कैसे दण्ड दे सकते हो ॥ २०२ ॥

अपरं मुनीनां न चैषधर्मो यतस्तैर्दृष्टमदृष्टं श्रुतमश्रुतमलौल्यत्वम-शत्रुत्वं प्रशस्यते। उक्तं च—

समः शत्रौ च मित्रे च समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सुहृन्मित्रे ह्युदासीनो मध्यस्थो द्वेष्यबन्धुषु ॥ २०३ ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।
साधूनां निरवद्यानां सदाचारविचारिणाम् ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥ २०४ ॥

और भी, मुनियों का यह (दूसरों को मारना) धर्म नहीं है। क्योंकि उनके लिये देखा हुआ न देखे हुए के तथा सुना हुआ न सुने हुए के बराबर होता है और उनको लालच तथा शत्रुभाव उचित नहीं है। कहा भी है:—

निष्पाप और सदाचार का पालन करने वाले साधु पुरुषों में वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है जो शत्रु और मित्र में तथा मिट्टी के ढेले, पाषाण और सोने में जिसका समान भाव हो, सुहृत् (स्वभाव से ही हितैषी) और मित्र (स्नेहवश उपकार करने वाले) में उदासीन, घृणा के योग्य तथा कुटुम्बियों में एकभाव, सज्जन तथा पापियों को समान समझने वाला हो। योग में लगे हुए पुरुष को चाहिए कि एकान्त में बैठकर सदा मन को वश में करे ॥ २०३–२०४ ॥

तत्त्वमनेन कर्मणा भ्रष्टतपाः सञ्जातः । उक्तं च—

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्चेति द्वितीयकः ।
उभयोः पतनं दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ २०५ ॥

शालङ्कायन आह—कथमेतत् ? श्येन आह—

इसलिये आप इस कार्य को करके अपने तप से भ्रष्ट हो गये (तुम्हारा तप नष्ट हो गया)। कहा भी है—

'छोड़ो, छोड़ो, ऐसा कहता हुआ अपने तपःप्रभाव से भ्रष्ट हुआ और दूसरा 'मत छोड़ो' ऐसा कहने से भ्रष्ट हुआ, उन दोनों का पतन (तपोविनाश) देखकर तीसरे ने सर्वकार्य सिद्ध करने वाला मौन धारण कर लिया ॥ २०५ ॥

शालङ्कायनने पूछा :—'यह कैसे ?' श्येन ने कहा :—

कथा १२

कस्मिंश्चिन्नदीतट एकत-द्वित-त्रिताभिधानास्त्रयोऽपि भ्रातरो मुनयस्तपः कुर्वन्ति । तेषाञ्च तपःप्रभावादाकाशस्था धौतपौतिका निरालम्बा जलार्द्राभूस्पर्शनभयेन स्नानसमये तिष्ठन्ति । अथान्येद्युमयेव काचिन्मण्डूकिका केनापि गृध्रेण बलेन नीता । अथ तां गृहीतां विलोक्य तेषां ज्येष्ठेन करुणार्द्रहृदयेन भवतेव व्याहृतम् 'मुञ्च, मुञ्चे'ति । अत्रान्तरे तस्य धौतपोतिकाकाशाद्भूमौ पतिता । तां पतितां दृष्ट्वा द्वितीयेन तद्भयार्तेन 'मा मुञ्चे'त्यभिहितं यावत्तस्यापि पपात । ततस्तृतीयो द्वयोरपि धौतपोतिकां भूमौ पतितां दृष्ट्वा तूष्णीं बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि—'मुञ्च मुञ्च पतत्येक' इत्यादि ।

किसी नदी-तट पर एकत, द्वित और त्रित नामक तीन भाई मुनि तप करते थे, उनके तपःप्रभाव के कारण स्नान के समय (उनके) धुले हुए गीले वस्त्र पृथ्वी के छूने के भय से विना सहारे ही आकाश में टँगे रहते थे । एक दिन जिस प्रकार (इस मूषिका को पकड़ा) इसी तरह गिद्ध ने एक मेंढ़की को जबरजस्ती पकड़ ली । उसको पकड़ा हुआ देखकर उनमें सबसे ज्येष्ठ ने करुणा से कातर-हृदय हो आपके समान 'छोड़ो, छोड़ो' कहा । इसी समय उसका वस्त्र पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसको गिरता देख दूसरा अपने वस्त्र के गिरने के भय से व्याकुल हो गया और ज्योंही उसने 'मत छोड़' ऐसा कहा त्योंही उसका भी

वस्त्र गिर गया। तब तीसरा उन दोनों के वस्त्रों को गिरा हुआ देख कर चुप हो गया। इसलिये मैं कहता हूँ 'एक मुञ्च-मुञ्च कहने से गिरता है' इत्यादि।

तच्छ्रुत्वा मुनिर्विहस्याह—'भो मूर्ख! विहङ्गम! कृतयुगे धर्मः स आसीत्। यतः कृतयुगे पापालापतोऽपि पापं जायते तेन धौतपोतिके पतिते अशिष्टालापेन न सदपवचनदोषतः। एष पुनः कलियुगः। अत्र सर्वोऽपि पापात्मा। तत्कर्म कृतं विना पापं न लगति।' उक्तं च—

संचरन्तीह पापानि युगेष्वन्येषु देहिनाम्।
कलौ तु पापसंयुक्ते यः करोति स लिप्यते॥ २०६॥

यह सुन, मुनि ने हंसकर कहा—'अरे मूर्ख पक्षी! सत्ययुग में यह धर्म था क्योंकि सत्ययुग में पापी पुरुषों के साथ बातचीत करने से भी पाप होता था। इसीलिये अशिष्ट (दुष्ट) गृध्र के साथ वार्तालाप करने से धौतवस्त्र गिर पड़े। यह तो कलियुग है। इसमें सभी मनुष्य (प्राणी) स्वभाव से ही पापी होते हैं। इसलिये (वस्तुतः) पापकर्म किये विना पाप नहीं लगता।' कहा भी है:—

इस संसार में कलि के अतिरिक्त अन्य (सत्य आदि) युगों में पाप एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को लगता है परन्तु पाप से परिपूर्ण कलियुग में तो जो कर्म करता है उसी को पाप लगता है॥ २०६॥

उक्तं च—

आसनाच्छायनाद्यानात्संगतेश्चापि भोजनात्।
कृते संचरते पापं तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ २०७॥

कृतयुग में पाप जल में तेल-बिन्दु के समान (पापी पुरुष के साथ) बैठने, सोने, जाने, साथ रहने और भोजन करने से लगता था॥ २०७॥

तत्किं वृथा प्रलपितेन? गच्छ त्वम्। नो चेच्छापयिष्यामि। अथ गते श्येने मूषिकया स मुनिरभिहितः—'भगवन्! नय मां स्वाश्रयम्। नो चेदन्यो दुष्टपक्षी मां व्यापादयिष्यति; तदहं तत्रैवाश्रये त्वद्दत्ताहार-मुष्ट्या कालं नेष्यामि।' सोऽपि दाक्षिण्यवान् सकरुणो व्यचिन्तयत्—'कथं मया मूषिका हस्ते धृत्वा नेया जनहास्यकारिणी, तदेनां कुमारिकां कृत्वा नयामि।' एवं सा कन्यका कृता। तथाऽनुष्ठिते कन्यासहितं मुनिमवलोक्य पत्नी पप्रच्छ-'भगवन्! कुत इयं कन्या?।' स आह—'एषा मूषिका श्येनभयच्छरणार्थिनी कन्यारूपेण तव गृहमानीता। तत्त्वया यत्नेन

रक्षणीया । भूयोऽप्येनां मूषिकां करिष्यामि ।' सा प्राह—'भगवन् ! मैवं कार्षीः । अस्यास्त्वं धर्मपिता ।' उक्तं च—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ २०८ ॥

इसलिये व्यर्थ बकवाद करने से क्या लाभ ? तुम चले जाओ, नहीं तो शाप दे दूंगा । अनन्तर श्येन के चले जाने पर मूषिका ने मुनि से कहा—'भगवन् ! मुझे अपने स्थान पर ले चलो, नहीं तो अन्य दुष्ट पक्षी मुझे मार डालेगा । इसलिये मैं वहीं तुम्हारे स्थान पर ही तुम्हारे दिये हुए मुष्टि-परिमित अन्न से अपना समय बिता दूंगी । उदारचेता मुनि ने करुणापूर्वक विचार किया—'इस चुहिया को हाथ में रखकर मैं कैसे ले जाऊँ ? इससे मनुष्य हंसी करेंगे, इसलिये इसे लड़की बनाकर ले चलूं ।' तब उसको लड़की बना दिया । ऐसा करने पर (मूषिका को लड़की बनाकर ले जाने पर) कन्या-सहित मुनि को देखकर पत्नी ने पूछा—'भगवन् ! यह लड़की कहां से मिली ?' उसने कहा—'बाज के डर से रक्षा चाहने वाली इस मूषिका को कन्या बनाकर तुम्हारे घर लाया हूँ । तुम यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करना । इसको मैं फिर भी मूषिका बना दूंगा ।' उसने कहा—'भगवन् ! ऐसा न कीजिये । तुम इसके धर्मपिता हो ।' कहा भी है:—

पैदा करने वाला, उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) करने वाला, विद्याप्रदान करने वाला, अन्नदाता और भय से रक्षा करने वाला ये पांच पिता माने गये हैं ॥

तत्त्वयाऽस्याः प्राणाः प्रदत्ताः । अपरं ममाप्यपत्यं नास्ति । तस्मादेषा मम सुता भविष्यति । तथाऽनुष्ठिते सा कन्यका शुक्लपक्षचन्द्रकलिकेव नित्यं वृद्धिं प्राप्नोति । साऽपि तस्य मुनेः शुश्रूषां कुर्वती सपत्नीकस्य यौवनमाश्रयात् । अथ तां यौवनोन्मुखीमवलोक्य शालङ्कायनः स्वपत्नीमुवाच—'प्रिये ! यौवनोन्मुखी वर्तत इयं कन्या । अनर्हा साम्प्रतं मद्गृहवासस्य ।' उक्तं च—

अनूढा मन्दिरे यस्य रजः प्राप्नोति कन्यका ।
पतन्ति पितरस्तस्य स्वर्गस्था अपि तैर्गुणैः ॥ २०९ ॥

तुमने इसको प्राण प्रदान दिया है । दूसरी बात यह है कि मेरी कोई सन्तान भी नहीं है । इसलिये यह मेरी पुत्री होकर रहेगी । ऐसा करने पर वह कन्या शुक्लपक्ष

की चन्द्र-कला के समान दिन दिन बढ़ने लगी। वह कन्या पत्नी सहित मुनि की सेवा करती हुई शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हुई। अनन्तर कन्या को युवती होते देख शालङ्कायनने पत्नी से कहा—'प्रिये! यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हो रही है, अब यह हमारे घर रहने योग्य नहीं है।' कहा भी है:—

जिस पुरुष के घर कन्या अविवाहित रहकर रजस्वला होती है, स्वर्ग को प्राप्त हुए भी उसके पितृ-गण (बाप, दादा आदि) विवाह से पूर्व ही रजस्वला होने से उत्पन्न अधर्म आदि गुणों (दोषों) के कारण स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं॥

वरं वरयते कन्या माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥ २१०॥

(विवाह के समय) कन्या उत्तम पति चाहती है, माता धन देखती है, पिता (दामाद की) विद्या पर ध्यान देता है, बन्धु लोग खानदान देखते हैं और अन्य (बाराती लोग) स्वादिष्ट भोजन ही चाहते हैं॥ २१०॥

तथा च—

यावन्न लज्जते कन्या यावत्क्रीडति पांसुना।
यावत्तिष्ठति गोमार्गे तावत्कन्यां विवाहयेत्॥ २११॥

जब तक कन्या लजाती नहीं, जब तक धूल के साथ खेले और जब तक गौओं के मार्ग में घूमे तभी तक उसका विवाह कर देना चाहिए॥ २११॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २१२॥

रजस्वला कन्या को देखने से माता, पिता और ज्येष्ठ भ्राता ये तीनों नरक भागी होते हैं॥ २१२॥

तथा च—

कुलं च शीलञ्च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥२१३॥

उत्तम वंश, सत्स्वभाव, पितादि रक्षक का जीवित होना, विद्या, धन, रूप अथवा शरीर-संगठन और आयु इन सात गुणों की अच्छे प्रकार परीक्षा करके विद्वान् पुरुषों को कन्या का विवाह कर देना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात के विचार करने की आवश्यकता नहीं है॥ २१२॥

तद्यद्यस्या रोचते तद्भगवन्तमादित्यमाकार्य तस्मै प्रयच्छामि । उक्तं च—

अनिष्टः कन्यकाया यो वरो रूपान्वितोऽपि यः ।
यदि स्यात्तस्य नो देया कन्या श्रेयोऽभिवाञ्छता ॥ २१४ ॥

इसलिये यदि यह चाहे तो मैं भगवान् सूर्य को बुलाकर उन्हें दे सकता हूँ । कहा भी है:—

भविष्य में (परिणाम में) सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह उस पुरुष को अपनी कन्या न दे जिसे कन्या पसन्द न करे, वह सुन्दर ही क्यों न हो ॥२१४॥

सा प्राह—'को दोषोऽत्र विषये । एवं क्रियताम् ।' अथ मुनिना रविराहूतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच—'भगवन् ! वद द्रुतं, किमर्थमहमाहूतः ?' स आह—'एषा मदीया कन्यका तिष्ठति । यद्येषा त्वां वृणोति तर्ह्युद्वहस्व' इति । एवमुक्त्वा स भगवाँस्तस्या दर्शितः, प्रोवाच च—'पुत्रि ! किं तव रोचत एष भगवाँस्त्रैलोक्यदीपः ।' सा प्राह—'तात ! अतिदहनात्मकोऽयं, नाहमेनमभिलषामि । अस्मादपि य उत्कृष्टतरः स आहूयताम् ।' अथ तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य भास्वरोऽपि तां मूषिकां विदित्वा निःस्पृहस्तमुवाच—'भगवन् ! अस्ति ममाप्यधिको मेघो येनाच्छादितस्य मे नामाऽपि न ज्ञायते ।' अथ मुनिना मेघमप्याहूय कन्याभिहिता—'एष ते रोचते ?' सा प्राह—'कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च, तदस्मादन्यस्य कस्यचित्प्रधानस्य मां प्रयच्छ ।' अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्टः—'भोः ! त्वत्तोऽप्यधिकः कोऽप्यस्ति ?' स आह—'मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति वायुः । वायुनाहतोऽहं सहस्रधा यामि ।' तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः, आह च—'पुत्रिके ! किमेष वायुस्ते विवाहाय उत्तमः प्रतिभाति ?' सा आह—'प्रबलोऽप्ययं चञ्चलः । तदभ्यधिकः कश्चिदाहूयताम् ।' मुनिराह—'भो वायो ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ?' स आह—'मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति पर्वतो येन संस्तभ्य बलवानप्यहं ध्रिये ।' अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्याया अदर्शयत्—'पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?' सा आह—'तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च । तदन्यस्मै देहि माम् ।' अथ स मुनिना पृष्टः—'यद्भो पर्वतराज ! त्वत्तोऽप्यधिकः कश्चिदस्ति ?' स आह—'सन्ति मत्तोऽप्यधिका मूषकाः, ये मद्देहं बलात्सर्वतो भेदयन्ति ।' तदाकर्ण्य मुनिर्मूषकमाहूय

तस्या अदर्शयत्—'पुत्रिके ! एष ते प्रतिभाति मूषकराजो येन यथोचित-मनुष्ठीयते ।' साऽपि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरा प्रोवाच—'तात ! मां मूषिकां कृत्वाऽस्मै प्रयच्छ येन स्वजातिविहितं गृहधर्ममनुतिष्ठामि ।' तच्छ्रुत्वा तेन स्त्रीधर्मविचक्षणेन तां मूषिकां कृत्वा मूषकाय प्रदत्ता । अतोऽहं ब्रवीमि—'सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य' इत्यादि ।

वह बोली—'इसमें क्या हानि है ? (कुछ हानि नहीं) ऐसा कर लीजिये ।' तब मुनि ने सूर्य को बुलाया । वेदमन्त्रों द्वारा आह्वान के प्रभाव से उसी क्षण आकर सूर्य ने कहा—'भगवन् ! जल्दी कहिये, मुझे क्यों बुलाया है ?' उसने कहा—'यह मेरी लड़की खड़ी है, यदि यह तुम्हें पसन्द करे तो इसके साथ विवाह कर लो ।' यह कह कर उसे भगवान् दीखाते हुए अपनी पुत्री से कहा—'क्या तुम्हें यह त्रैलोक्य-प्रकाशक भगवान् सूर्य पसन्द हैं ?' उसने कहा—'पिता! यह अत्यन्त उष्ण है, मैं इसे नहीं चाहती, इससे भी यदि कोई श्रेष्ठ हो तो उसे बुलाओ ।' उसका यह वचन सुनकर भगवान् सूर्य ने भी उसे मूषिका समझ कर विरक्त हो कहा—'भगवन् ! मुझसे भी श्रेष्ठ मेघ है जिससे ढके जाने पर मेरा नाम भी नहीं जाना जाता है । (मेरा अस्तित्व भी मिट सा जाता है ।) अनन्तर मुनिने मेघको बुलाकर कन्या से कहा—'पुत्रि ! क्या तुम्हें यह पसन्द है ?' उसने कहा—यह काला तथा मूर्ख है (और जलस्वरूप है) । इसलिये इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे को मुझे दो ।' तब मुनि ने मेघ से पूछा—'तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा—'वायु मुझसे भी श्रेष्ठ है, वायुसे ताडित होकर मैं छिन्न-भिन्न हो जाता हूँ ।' यह सुन कर मुनि ने वायु को बुलाया और पुत्री से कहा—'पुत्रि ! क्या तुम्हें विवाह के लिये यह वायु अच्छा लगता है ?' उसने कहा—'यह बलवान् होते हुए भी चञ्चल है । इससे भी किसी उत्तम को बुलाओ ।' मुनि ने कहा—'हे वायो ! तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' वह बोला—'मुझसे भी पर्वत उत्तम है जिससे रुककर बलवान् होता हुआ भी मैं आगे नहीं बढ़ सकता (जहां का तहां खड़ा रह जाता) हूँ ।' तब मुनिने पर्वतको बुलाकर कन्याको दिखाया—'पुत्रि ! तुम्हें मैं इसे दे दूँ ?' उसने कहा-'यह अत्यन्त कठोर और निश्चल है । इसलिये मुझे किसी अन्यको दो ।' तब मुनिने उससे पूछा—'हे पर्वतराज ! तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा—'मुझसे भी श्रेष्ठ चूहे हैं जो जबर्दस्ती मेरे शरीर को विदीर्ण कर देते हैं ।' यह सुनकर मुनिने मूषकराज को बुलाकर उसे

दिखाया—'पुत्रि! यह मूषकराज क्या तुम्हें पसन्द है? जिससे यथायोग्य कार्य किया जाय। (तुम्हें मूषिका बनाकर इसे दे दिया जाय।)' वह भी उसको देखकर उसे अपनी जातिका समझती हुई अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसका शरीर रोमाञ्च से सुशोभित हो गया, वह बोली—'हे तात! मुझे मूषिका बनाकर इसे सौंप दो जिससे अपनी जाति-समुचित गृहस्थधर्मका पालन करूँ।' यह सुनकर स्त्री-धर्म को जाननेवाले मुनि ने उसे मूषिका बनाकर मूषक को सौंप दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'सूर्य पति को छोड़ कर' इत्यादि।

अथ रक्ताक्षवचनमनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीतः। नीयमानश्चान्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—

हन्यतामिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना।
स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥ २१५॥

अनन्तर रक्ताक्ष की बात पर ध्यान न देकर अपने कुल का नाश करने के लिये वे लोग उसे (स्थिरजीवी को) अपने दुर्ग में ले गये। ले जाये जाते हुए स्थिरजीवीने अन्दर ही अन्दर हंस कर विचार किया:—

स्वामी की भलाई की वात कहने वाला जिस (रक्ताक्ष) ने कहा था कि 'इसे मार डालो' वह एक ही इन सबमें नीतिशास्त्र के वास्तविक अभिप्राय को समझता है॥२१५॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन्नेते, ततो न स्वल्पोऽप्यनर्थोऽभविष्यदेतेषाम्। अथ दुर्गद्वारं प्राप्यारिमर्दनोऽब्रवीत्—'भो भो! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहितं स्थानं प्रयच्छत।' तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—'मया तावदेतेषां वधोपायश्चिन्तनीयः। स मया मध्यस्थेन न साध्यते। यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तस्तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति। तद्दुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि।' इति निश्चित्योलूकपतिमाह—'देव! युक्तमिदं यत्स्वामिना प्रोक्तम्, परमहमपि नीतिज्ञस्तेऽहितश्च। यद्यप्यनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्ये आवासो नार्हः। तदहमत्रैव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजःपवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि।' 'तथा' इति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वोलूकराजादेशात्प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति। अथ कतिपयैरेवाहोभिर्मयूर इव स बलवान् संवृत्तः। अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं

पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानं च प्रत्याह—'अहो मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवाँश्चेत्येवमहमवगच्छामि।' उक्तं च—

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २१६ ॥

ते प्राहुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

अगर ये रक्ताक्ष के कथनानुसार चलते तो इनकी कुछ भी हानि न होती। दुर्ग-द्वार पर पहुँच कर अरिमर्दन ने कहा-'ओह! हमारे हितैषी इस स्थिरजीवी को इसकी इच्छानुसार स्थान दो।' यह सुन स्थिरजीवी सोचने लगा—'मुझे इनके नाश का उपाय सोचना है परन्तु दुर्ग के अन्दर रहते हुए मैं उसे ठीक-ठीक नहीं कर सकता क्योंकि मेरी चेष्टाओं को देखकर ये लोग सावधान हो जायेंगे। इसलिये दुर्गद्वार पर रहकर अपना मतलब (काम) सिद्ध करूँ।' यह निश्चय कर उलूक राज से बोला—'देव! आपने जो कहा वह बिलकुल ठीक है परन्तु मैं भी नीतिज्ञ और तुम्हारा (स्वभाव से) शत्रु हूँ। यद्यपि यह ठीक है कि मैं आपका भक्त तथा ईमानदार हूँ तो भी दुर्ग के बीच में मेरा रहना उचित नहीं है। इसलिये मैं यहीं दुर्ग-द्वार पर ही रहते हुए प्रतिदिन आपके चरण कमलों की धूलि से अपने शरीर को पवित्र करता हुआ आपकी सेवा करूँगा। 'बहुत अच्छा' कह कर उलूकराज के स्वीकार कर लेने पर, उसकी आज्ञा से उलूक-पति के सेवक उत्तम-उत्तम भोजन बनाकर स्थिरजीवी को देने लगे। कुछ ही दिन में वह (स्थिरजीवी) मयूर के समान बलवान् हो गया। रक्ताक्ष ने स्थिरजीवी को पुष्ट होता देखकर राजा और मन्त्रियों से आश्चर्यपूर्वक कहा—'मैं समझता हूँ कि ये मन्त्री लोग और आप मूर्ख ही हैं।' कहा भी है:—

पहिले तो मैं ही मूर्ख हूँ, दूसरा व्याध मूर्ख है, फिर राजा और मन्त्री मूर्ख है। इस तरह यहां सब मूर्खों की ही मण्डली स्थित है ॥ २१६ ॥

उन्होंने पूछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा १३

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे महान् वृक्षः। तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म। तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते। अथ कदाचित्तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समाययौ। स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज। अथ पातसमकालमेव तत्सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयमगमत्—'अहो मम

शिशुकालादारभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनोऽशीतिवर्षाणि समभूवन्, न च कदाचित्पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्' इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध। अथासावपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टस्तत्कालमेव पाशेन बद्धः। व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान्। अथ चिन्तयामास—'किमनेन सापायेन पक्षिणाहं करिष्यामि? यदि कदाचित्कोऽप्यमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयिष्यति तन्नूनं प्राणसंशयो मे भवेत्; अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदयामि' इति विचार्य तथैवानुष्ठितवान्।

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपगतः। प्राह चैवं—'हंहो रक्षापुरुषाः। एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत। अशनपानादिकं चास्य यथेच्छं प्रयच्छत।' अथ मन्त्रिणाभिहितम्—'किमनेनाश्रद्धेयव्याधवचनमात्रपरिगृहीतेनाण्डजेन? किं कदाचित्पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भवति? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी।' इति मन्त्रिवचनाद्राज्ञा मोचितोऽसौ पक्षी उन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति।

किसी पर्वत के एक भाग में एक बड़ा वृक्ष था। वहाँ सिन्धुक नामक कोई पक्षी रहता था। उसकी बीट में सुवर्ण पैदा हुआ करता था। किसी समय कोई शिकारी उसके पास आया। पक्षी ने उसके सामने ही बीट की, गिरने के साथ ही उसे सुवर्ण में परिवर्तित होता देख व्याध को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'ओह! बचपन से ही पक्षियोंको पकड़ने में आसक्त मेरे ८० वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु कभी भी मैंने पक्षी की बीट में सुवर्ण नहीं देखा।' यह विचार कर उस वृक्ष पर उसने जाल लगा दिया। वह मूर्ख पक्षी भी विश्वस्त-चित्त से पहिले की ही तरह बैठा रहा। उसी समय पाश में बंधा गया। व्याध पाश से खोल कर और उसे पिंजरे में बन्द कर अपने घर ले गया। तब वह सोचने लगा—विपत्ति में फँसाने वाला इस पक्षी को लेकर मैं क्या करूँगा? यदि कोई इसकी यह विशेषता जान कर राजा को सूचित कर देगा तो निश्चय ही मेरा प्राण संशय में पड़ जायगा। इसलिये मैं स्वयं ही इस पक्षी को राजा की भेंट कर दूँ (श० सूचित कर दूँ)' यह विचार कर उसने वैसा ही किया।

उस पक्षी को देख कर राजा के नेत्र और मुखरूपी कमल खिल गये और वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—'राजपुरुषो! यत्नपूर्वक इस पक्षी की रक्षा करो, खाने-पीने की वस्तुएँ इच्छानुसार दो।' तब मन्त्री ने कहा—'केवल विश्वास के अयोग्य इस व्याध के वचन पर विश्वास कर इस पक्षी के पकड़ने से क्या लाभ? क्या कभी पक्षी के मल में भी सुवर्ण हो सकता है? इसलिये इसे पिंजरे से मुक्त कर दो।' मन्त्री के इस कथन के अनुसार राजा ने उसे छोड़ दिया। छूटते ही वह दरवाजे के ऊँचे तोरण द्वार पर जा बैठा और सुवर्णरूपी बींट करके 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इत्यादि श्लोक पढ़ कर इच्छानुसार आकाश में उड़ गया। इसलिये मैं कहता हूँ—'पहिले मैं मूर्ख' इत्यादि।

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच—'अहो! एतावदेवास्मद्भूपतेः कुशलं दुर्गञ्च; तदुपदिष्टं मया यत्कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते। तद्वयमन्यत्पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः। उक्तं च यतः—

अनागतं यः कुरुते स शोभते, स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता॥२१७॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत्?' रक्ताक्षः कथयति—

फिर भी वे (उलूक) दैव के प्रतिकूल होने के कारण हितकारी भी रक्ताक्ष का वचन न मान कर मांस आदि तरह-तरह के भोजनों से स्थिरजीवी का पोषण करने लगे। तब रक्ताक्ष ने अपने लोगों को एकान्त में बुला कर कहा—'हमारे इस राजा की इतना ही (इस समय तक ही) कुशलता थी और अभी तक ही दुर्ग सुरक्षित था।' एक कुलक्रमागत मन्त्री को जो कहना चाहिए वह मैं कह चुका (श०-उपदेश दे चुका)। अब हम किसी दूसरे पर्वतरूपी दुर्ग में जाकर रहेंगे। क्योंकि कहा भी है:—

जो मनुष्य आने वाले (दुःख का प्रतिकार) को सोचता है वही शोभा पाता है (सुख से रहता है) और जो आने वाले विपत्ति का पूर्व से ही प्रतिकार नहीं सोचता वह पछताता है। इस वन में रहते हुए मेरा बुढ़ापा आ गया परन्तु बिल की आवाज मैंने कभी नहीं सुनी॥ २१७॥

उन्होंने पूछा—'यह कैसे?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा १४

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । स कदाचिदितश्चेतश्च परिभ्रमन्क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वमाससाद । ततश्चास्तमनसमये महतीं गिरिगुहामासाद्य प्रविष्टश्चिन्तयामास—'नूनमेतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेनागन्तव्यम्; तन्निभृतो भूत्वा तिष्ठामि ।' एतस्मिन्नन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः । स च यावत्पश्यति तावत्सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा, न च निष्क्रान्ता इति दृष्टवान् । ततश्चाचिन्तयत्—'अहो विनष्टोऽस्मि, नूनमस्यान्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम्; तत्किं करोमि? कथं ज्ञास्यामि?' एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः—'अहो बिल! अहो बिल!' इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथैव प्रत्यभाषत—'भोः! किं न स्मरसि, यन्मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति, यन्मया बाह्यात्समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया चाहमाकारणीयः इति? तद्यदि मां नाह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि ।' अथ तच्छ्रुत्वा सिंहश्चिन्तितवान्—'नूनमेषा गुहाऽस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परमद्य मद्भयान्न किंचिद्ब्रूते ।' अथवा साध्विदमुच्यते—

भयसंत्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २१८ ॥

किसी वन में खरनखर (तीक्ष्ण नाखून वाला) नाम का सिंह रहता था । एक समय वह भूख से व्याकुल हो (शिकार की तलाश में) इधर उधर भटकता रहा परन्तु उसे कोई जानवर न मिला । तब सायङ्काल के समय एक बड़ी गुफा के पास पहुँच उसमें प्रविष्ट होकर सोचने लगा—'निश्चय ही रात्रि में कोई जानवर यहां आयेगा । इसलिये चुपचाप यहां बैठ जाऊँ ।' इसी समय उस गुफा का स्वामी दधिपुच्छ नामक शृगाल आया । उसने आकर देखा कि सिंह के पदचिह्न गुहा में प्रविष्ट हुए हैं (अन्दर जाने के सिंह के निशान हैं) । परन्तु निकलनेका नहीं (निकलते समय के पदचिह्न नहीं है) । तब वह सोचने लगा—'ओह ! मैं तो मारा गया, निश्चय ही इस (गुहा) के अन्दर सिंह है । अब मैं क्या करूँ ? कैसे (ठीक-ठीक बात) जानूं?' यह सोच कर द्वार पर खड़े होकर वह पुकारने लगा—'अये बिल, अये बिल!' यह कह कर और कुछ देर चुप रहकर फिर उसी तरह कहने लगा—'हे

बिल ! क्या तुझे याद नहीं कि मैंने तेरे साथ निश्चय किया हुआ है कि बाहर से आकर मैं तुझे पुकारूँगा और तू मुझे बुलाया करोगे। यदि तुम मुझे नहीं उत्तर देते हो तो मैं दूसरे बिल में चला जाऊँगा।' यह सुन सिंह ने सोचा—'सम्भवतः यह गुफा इसके आने पर सदा ही इसे बुलाती है परन्तु आज मेरे भय से नहीं बुलाती। अथवा यह ठीक ही कहा है:—

भयभीत हुए पुरुषों के मन, हाथ पैर और वाणी काम नहीं करता और उनके शरीर में कंपकपी अधिक होती है ॥ २१८ ॥

तदहमस्याह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति। एवं सम्प्रधार्य सिंहस्तस्याह्वानमकरोत्। अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यानपि दूरस्थानरण्यजीवाँस्त्रासयामास। शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठत्—'अनागतं यः कुरुते स शोभते' इत्यादि

इसलिये मैं इसे बुलाऊं जिससे उसके अनुसार यह अन्दर आकर मेरा भोजन बन जावे–मैं इसे खा लूं।' यह निश्चय कर सिंह ने उसे बुलाया। अनन्तर सिंह के शब्द की प्रतिध्वनि से परिपूर्ण उस गुफा ने दूरवर्ती भी वन्य-पशुओं को भयभीत कर दिया। भागते हुए शृगाल ने यह श्लोक पढ़ा—'अनागत' इत्यादि।

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यमिति।' एवमभिधायात्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीव्यतिहृष्टमना व्यचिन्तयत्–'अहो! कल्याणमस्माकमुपस्थितं, यद्रक्ताक्षो गतः। यतः स दीर्घदर्शी। एते च मूढमनसः। ततो मम सुखघात्याः सञ्जाताः। उक्तञ्च यतः—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः ॥ २१९ ॥

इसलिये यह समझकर तुम लोगों को मेरे साथ चलना चाहिए। यह कह कर अपने अनुचर तथा परिवार को साथ ले रक्ताक्ष दूर देश चला गया।

तब रक्ताक्ष के चले जाने पर स्थिरजीवी प्रसन्न मन हो सोचने लगा—रक्ताक्ष का चला जाना हमारे लिये अत्यन्त ही लाभदायक है। क्योंकि वह दीर्घदर्शी (विचारशील) था और ये मूर्ख हैं। अब मैं इन्हें आसानी से ही नष्ट कर दूँगा। क्योंकि कहा भी है:—

जिस राजा के मन्त्री वंशपरम्परागत हितैषी और दूरदर्शी नहीं होते उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है—यह बात सत्य है ॥ २१९ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः संभाव्यास्ते विचक्षणैः ।
ये सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः ॥ २२० ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है :—

जो मन्त्री उत्तम नीतिमार्ग को छोड़कर उलटी नीति से काम लेते हैं, विद्वानों को समझने चाहिए कि वे मन्त्री—रूपधारी शत्रु ही हैं ॥ २२० ॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाय एकैकां वनकाष्ठिकां गुहाप्रदीपनार्थं दिने दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति, यदेष कुलायमस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति । अथवा साध्विदमुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः ॥ २२१ ॥

यह सोच कर (स्थिरजीवी) गुहा को जलाने के लिये प्रतिदिन एक एक जंगली लकड़ी अपने घोंसले में डालने लगा । वे मूर्ख उलूक उसे नहीं समझ पाते थे कि यह हमें भस्म करने के लिये घोंसले को बढ़ा रहा है। अथवा यह ठीक ही कहा है :—

दुर्भाग्य से मारा गया पुरुष शत्रुको मित्र समझता है और मित्र से द्वेष करता है तथा उसे दुःख देता है, पुण्य को पाप और पाप को पुण्य समझता है॥२२१॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सञ्जाते सूर्योदये, अन्धतां प्राप्तेषूलूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रमृष्यमूकं गत्वा मेघवर्णमाह— 'स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा; तत्सपरिवारः समेत्यैकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारेऽस्मत्कुलाये प्रक्षिप, येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते ।' तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह— 'तात ! कथयात्मवृत्तान्तम् , चिरादद्य दृष्टोऽसि ।' स आह—'वत्स ! नायं कथनस्य कालः। यतः कदाचित्तस्य रिपोः कश्चित्प्रणिधिर्ममेहागमनं निवेदयिष्यति। यज्ज्ञानादन्धोऽन्यत्रापसरणं करिष्यति । तत्त्वर्यताम् । उक्तं च—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः ।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २२२ ॥

अनन्तर जब (स्थिरजीवी) घोंसला बनाने के बहाने दरवाजे पर लकड़ियाँ इकट्ठी कर चुका तब वह एक दिन सूर्योदय के समय उल्लुओं के अन्धे होने पर ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर मेघवर्ण से बोला—'स्वामिन् ! शत्रुओं की गुफा जलाने योग्य कर दी है, इसलिये परिवार सहित चल कर जलती हुई वन-लकड़ी लेकर गुहा-द्वार पर हमारे घोंसले में डाल दो जिससे सब शत्रु कुम्भीपाक नामक नरक के समान दुःख भोग कर मर जायें।' यह सुन कर प्रसन्न हो मेघवर्ण ने कहा—'हे तात (मान्य) ! अपना समाचार कहिए, बहुत दिनों के बाद आज दिखाई पड़े हो।' उसने कहा—'वत्स ! यह कहने का समय नहीं है क्योंकि यदि कदाचित् उस शत्रु के किसी गुप्तचर ने मेरा यहाँ आना उससे सूचित कर दिया तो वह अन्धा (उलूकराज) कहीं दूसरे जगह चला जायगा। इसलिये शीघ्रता करें। कहा भी है:—

जो मनुष्य शीघ्र करने योग्य कार्यों में भी देर लगाता है उसके उस कार्य को देवता लोग भी क्रुद्ध होकर नष्ट कर देते हैं ॥ २२२ ॥

तथा च—

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ॥ २२३ ॥

और भी—शीघ्र न किये जाने वाले जिस किसी भी कार्य के (साधारणतया सब ही कार्यों के) विशेषतः फलोन्मुख (जिसका परिणाम शीघ्र ही उत्पन्न होने वाला है) कार्य के फल को समय पी लेता है (नष्ट कर देता है) ॥ २२३ ॥

तद्गुहायामायातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तरं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि। अथासौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं वनकाष्ठिकां चञ्च्वग्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत्। ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्यावृतत्वादनिस्सरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना मृताश्च। एवं शत्रून् निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णस्तदेव न्यग्रोध पादपदुर्गं जगाम। ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनमपृच्छत्—'तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत्पर्यन्तं कालो नीतः ? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्तते, तत्कथ्यताम्। यतः—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम् ।
न चारिजनसंसर्गो मुहूर्तमपि सेवितः ॥ २२४ ॥

इसलिये शत्रुओं का नाश करके जब तुम गुहा में लौट आओगे तब सब बातें निःशंक हो विस्तारपूर्वक कहूँगा। तब वह मेघवर्ण उसके वचन सुनकर परिवार सहित जलती हुई एक एक लकड़ी चोंच के अग्रभाग से पकड़ कर उलूकों के गुहा-द्वार पहुंचा और उसने स्थिरजीवी के घोंसले में उन्हें डाल दिया। तब वे दिवान्ध उलूक रक्ताक्ष की बातें याद करने लगे परन्तु द्वार के बन्द होने के कारण बाहर न निकल सके और वहीं कुम्भार के आग में घड़ों के समान अन्दर अन्दर जल कर भस्म हो गये। इस प्रकार शत्रुओं को समूल नष्ट कर फिर मेघवर्ण उसी न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग में जा पहुंचा। तब सिंहासन पर बैठकर सभा में (सबके समक्ष) प्रसन्नचित्त हो मेघवर्ण ने स्थिरजीवी से पूछा—'हे तात! तुमने शत्रुओं के बीच में रहकर इतना समय व्यतीत किया, इस विषय में हमलोगों को बहुत ही कुतूहल (जानने की इच्छा) है। इसलिये कहिये। क्योंकि—

साधुचरित्र पुरुषों के लिये जलती हुई अग्नि में गिरना अच्छा परन्तु क्षणभर के लिये भी किया हुआ शत्रुजनों का संसर्ग अच्छा नहीं ॥ २२४ ॥

तदाकर्ण्य स्थिरजीव्याह—'भद्र! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति। उक्तं च यतः—

कार्यस्यापेक्षया भुक्तं विषमप्यमृतायते ।
सर्वेषां प्राणिनामेव नात्र कार्या विचारणा ॥ २२५ ॥

यह सुन स्थिरजीवी ने कहा—'भद्र! भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा से सेवक जन कष्ट को भी कुछ नहीं समझता। जैसे कहा भी है:—

किसी कार्य विशेष की इच्छा से खाया हुआ विष भी सब ही प्राणियों को अमृत के समान काम देता है इस विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवेत्,
स स निपुणया बुद्ध्या सेव्यो महान् कृपणोऽपि वा ।
करिकरनिभौ ज्याघाताङ्कौ महाऽर्थविशारदौ,
रचितवलयैः स्त्रीवद्बद्धौ करौ हि किरीटिना ॥ २२६ ॥

विपत्ति में फंसे हुए पुरुषों को चाहिए कि वे चतुर बुद्धि द्वारा अपनी भलाई करने वाले जिस किसी भी उपाय का अवलम्बन करें चाहे वह (उपाय) उत्तम

अथवा नीच ही क्यों न हो। अर्जुन ने हाथी के सूंड के तुल्य (लम्बे और मोटे) धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ से जिनमें चिह्न पड़ गये थे और जो शत्रु-पराजयादिरूपी महान् कार्यों के करने में समर्थ थे ऐसे अपनी भुजाओं को स्त्री के समान कड़ों से विभूषित किया था ॥ २२६ ॥

शक्तेनापि सता जनेन विदुषा कालान्तरापेक्षिणा,
वस्तव्यं खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने।
दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनायासयुक्तेन च,
भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने किं तोषितं सूदवत् ॥ २२७ ॥

शक्तिशाली भी समझदार पुरुष को चाहिए कि वह उत्तम (अपने अभ्युदय) करने वाले समय की प्रतीक्षा करता हुआ, वज्रतुल्य कठोर वचन बोलने वाले पापी और नीच-स्वभाव के भी पुरुष के पास रहे। (देखो) अत्यन्त बलवान् भीमसेन विराट-गृह में चमचा हाथ में लिये हुए, धूम से मलिन कष्टप्रद कर्म में नियुक्त होकर रसोइये के समान क्या नहीं रहे थे ? ॥ २२७ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतितः साधु वा गर्हितं वा
कालापेक्षी हृदयनिहितं बुद्धिमान् कर्म कुर्यात्।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुगुणास्फालनक्रूरपाणि-
र्नासीलीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ॥ २२८ ॥

विपत्तिग्रस्त बुद्धिमान् पुरुष अच्छे समय की प्रतीक्षा करता हुआ अपना निश्चित (संकल्पित) कार्य करता रहे चाहे वह अच्छा हो या बुरा (देखो) अपने गाण्डीव धनुष की चमकदार बड़ी प्रत्यञ्चा के बार-बार खींचने से जिसके हाथ कठोर हो गये हैं ऐसे अर्जुन क्या (विराट-गृह में) विलासपूर्वक नाचने में अपनी मेखला को चमकाते हुए नहीं रहे अपितु रहे ही अर्थात् उन्होंने भी स्त्रीवेष धारण कर स्त्रियोचित कर्म करते हुए अपना समय व्यतीत किया ॥ २२८ ॥

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं,
सत्त्वोत्साहवतापि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात्।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः,
किं क्लिष्टः सुचिरं विराटभवने श्रीमान्न धर्मात्मजः ॥२२९॥

हृदय से अपने कार्य की सफलता चाहने वाले विद्वान् पुरुष को चाहिए कि

वह बलवान् और उत्साही होते हुए भी अपना तेज छिपाकर-प्रकाशित न करके भाग्य की दुर्घटनाओं में धैर्य धारण करे। (देखो) स्वयं राजलक्ष्मी से संपन्न तथा इन्द्र, कुबेर और यम-सदृश भाइयों के साथ रहते हुए भी युधिष्ठिर महाराज ने क्या विराट के घर चिरकाल तक कष्ट नहीं भोगा? किन्तु भोगा ही ॥ २२९ ॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ माद्रीपुत्रौ बलान्वितौ।
गोकर्मरक्षाव्यापारे विराटप्रेष्यतां गतौ ॥ २३० ॥

सुन्दर तथा सत्कुलोत्पन्न और बलवान् माद्री-पुत्र (नकुल तथा सहदेव) गौवों की सेवा तथा रक्षा कर्म में नियुक्त होकर विराट के सेवक बने ॥ २३० ॥

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना,
कान्त्या श्रीरिव याऽत्र सापि विदशां कालक्रमादागता।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमाख्याततया,
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम्? ॥२३१॥

इस संसार में जो द्रौपदी अनुपम सौन्दर्य, तारुण्य, उत्तम कुल में जन्म और अपने लावण्य के कारण लक्ष्मी के समान थी वह भी बुरा समय आनेपर, दुर्दशा को प्राप्त हुई। (देखो) युवतियों द्वारा अहङ्कारपूर्वक तिरस्कार के कारण 'सैरन्ध्री' इस नाम से पुकारी जाती हुई उस द्रौपदी ने विराट के घर क्या चन्दन नहीं घिसा? ॥ २३१ ॥

मेघवर्ण आह—'तात! असिधाराव्रतमिदं मन्ये यदरिणा सह संवासः।' सोऽब्रवीत्—'देव! एवमेतत्, परं न तादृङ्मूर्खसमागमः क्वापि मया दृष्टः, न च महाप्रज्ञमनेकशास्त्रेष्वप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान्। यत्कारणं तेन मदीयं यथावस्थितं चित्तं ज्ञातम्। ये पुनरन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशला यैरिदमपि न ज्ञातम्। यतः—

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्संगतत्परः।
अपसर्पसधर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार स्थिरजीवी की बातें सुनकर मेघवर्ण ने कहा—'हे तात! शत्रु के साथ निवास करना असि (तलवार) की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान ही कठिन कार्य है।' यह सुन स्थिरजीवी ने कहा—'देव! आपने जो कहा वह बहुत अच्छा है। किन्तु मैंने कहीं भी ऐसा मूर्ख-समुदाय और अत्यन्त बुद्धिमान् तथा

अनेक शास्त्रों में अप्रतिहत बुद्धिवाला, रक्ताक्ष मन्त्री के समान बुद्धिमान् एवं दूरदर्शी मन्त्री भी आज तक कहीं नहीं देखा था। जो कि उसने मेरे हृदय में स्थित अभिप्राय को यथार्थ जान लिया। और जो मन्त्री हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि वे केवल मन्त्री नामधारण कर अपनी जीविका चलाने वाले हैं—कार्य करने में कुशल नहीं हैं। जो कि उन्होंने यह बात भी नहीं जानी' कि:—

शत्रु के देश से (लड़ कर अथवा भाग कर) आया हुआ भृत्य (नौकर) दुष्ट होता है—सदा शत्रु के पक्ष में रहने के कारण शत्रुपक्ष का हो जाता है और उसमें सदा गुप्तचर होने की सम्भावना रहती है। ऐसे भृत्य से उद्वेग और भय सदा बना रहता है। इसलिये ऐसे भृत्यों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये और न रखना ही चाहिये ॥ २३२ ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २३३ ॥

शत्रु अपने शत्रुओं को बैठने, सोने, चलने और खाने-पीने के समय असावधान देख कर उन पर आक्रमण करते हैं ॥ २३३ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः।
आत्मानमादृतो रक्षेत् प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २३४ ॥

इसलिये विद्वान् पुरुष धर्म-अर्थ-काम के आधारभूत अपने आपको बड़े यत्न से सब प्रकार के उपायों द्वारा बचावे क्योंकि असावधानी से मनुष्य नष्ट हो जाता है॥

साधु चेदमुच्यते—

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः कं स्वीकृता न विषया परिपीडयन्ति॥

कुपथ्य भोजन करने वाले किस पुरुष को रोग पीड़ित नहीं करते? किस दुष्ट मन्त्री को नीतिसंबन्धी दोष प्राप्त नहीं होते? अर्थात् क्या अनीतिकुशल मन्त्री नीति संबन्धी भूलें नहीं करता? ऐश्वर्य किसको अहङ्कारी नहीं बनाता? भोगे जाने वाले विषय (स्त्री आदि) किसको सन्तप्त नहीं करते? किन्तु सबको ही पीड़ित करते हैं॥

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥

लोभी पुरुष की कीर्ति, चुगलखोर की मित्रता, यज्ञादि क्रियाओं के न करने वाले पुरुष का वंश, धनोपार्जन में फँसे हुए जन का धर्म, द्यूतादि में फँसे हुएका

विषफल, कृपण का सुख और असावधान मन्त्री वाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ॥ २३६ ॥

तद्राजन् ! 'असिधाराव्रतं मयाचरितमरिसंसर्गादि'ति यद्भवतोक्तं; तन्मया साक्षादेवानुभूतम् । उक्तं च—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपमान स्वीकार करके तथा मान की परवा न कर अपना कार्य सिद्ध करे क्योंकि अपने कार्य की हानि करना मूर्खता है ॥ २३७ ॥

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

समय आने पर बुद्धिमान् मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिए शत्रु को अपने कन्धे पर बैठा कर भी घुमावें । मण्डूकों को अपनी पीठ पर बैठा कर घुमाता हुआ वह कृष्ण सर्प हजारों मेढकों को खा गया था ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण ने पूछा—'यह कैसे ?' स्थिरजीवी ने कहा—

कथा १५

अस्ति वरुणाद्रिसमीप एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवया मन्दविषो नाम कृष्णसर्पः । स एवं चित्ते संचिन्तितवान्—'कथं नाम मया सुखोपायवृत्त्या वर्तितव्यमिति ।' ततो बहुमण्डूकं ह्रदमुपगम्य धृतिपरीतमिवात्मानं दर्शितवान् ।

अथ तथा स्थिते स उदकप्रान्तगतेनैकेन मण्डूकेन पृष्टः—'माम ! किमद्य यथापूर्वमाहारार्थं न विहरसि ?'

सोऽब्रवीत्—'भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्याहाराभिलाषः ? यत्कारणमद्य रात्रौ प्रदोष एव मयाहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः । तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः । सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानामन्तरमपक्रान्तो न विभावितो मया क्वापि गतः ।

तत्सादृश्यमोहितचित्तेन मया कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सूनोर्ह्रदतटजलान्तः-स्थोऽङ्गुष्ठो दष्टः। ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः।

अथ तस्य पित्रा दुःखितेनाहं शप्तो यथा-'दुरात्मन्! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्टः। तदनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसाद-लब्धजीविकया वर्तिष्यते' इति। ततोऽहं युष्माकं वाहनार्थमागतोऽस्मि।'

अस्ताचल के पास एक स्थान में वृद्ध मन्दविष नाम का सर्प रहता था। उसने मन में विचार किया—'मैं किस प्रकार आसानी से जीविका प्राप्त करूँ?' तब वह (कदाचित्) मण्डूकों से परिपूर्ण तालाब के पास पहुँच कर अपने को वैराग्ययुक्त सा प्रदर्शित करता हुआ (बैठ गया)। उस दशा में बैठे हुए उससे जल के किनारे पर स्थित एक मेढक ने पूछा—'हे मामा! भोजन के लिये आज पहिले के समान क्यों यत्न नहीं करते?' उसने कहा—'हे भद्र! मुझ अभागे को भोजन की इच्छा कैसे हो सकती है? क्योंकि (उसका कारण यह है) आज रात्रि में सायङ्काल के ही समय भोजन की तलाश में घूमते हुए मैंने एक मेंढक देखा। उसे पकड़ने के लिये मैंने क्रम बांधा (मैं तयार हुआ)। वह भी मुझे देख कर मृत्यु के डर से वेदपाठ करने वाले ब्राह्मणों के बीच में घुस गया और मुझे मालूम न पड़ा कि वह कहाँ गया।' उसकी (मेंढक की) समानता के कारण धोखे में पड़ कर मैंने तलाब में तीर-जल में स्थित किसी ब्राह्मण-पुत्र का अंगूठा डस लिया। वह तुरन्त ही मर गया।' तब उसके पिता ने दुःखित हो मुझे शाप दिया कि—'अरे दुष्ट! तूने निरपराध ही मेरे पुत्र को डसा है, इसलिये तू इसी अपराध के कारण मेंढकों का वाहन-सवारी होगा। और उनकी कृपा से ही तेरी जीविका चलेगी—तुझे भोजन मिलेगी।' इसलिये मैं तुम्हारी सवारी के लिये आया हूँ।

तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितम्। ततस्तैः प्रहृष्टमनोभिः सर्वै-रेव गत्वा जलपादनाम्नो दर्दुरराजस्य विज्ञप्तम्। अथाऽसावपि मन्त्रि-परिवृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानो ससंभ्रमं ह्रदादुत्तीर्य मन्दविषस्य फणिनः फणाप्रदेशमधिरूढः। शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समारु-रुहुः। किं बहुना—तदुपरि स्थानमप्राप्तवन्तस्तस्यानुपदं धावन्ति। मन्द-

विषोऽपि तेषां तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान् गतिविशेषानदर्शयत्। अथ जलपादो लब्धसुखस्तमाह—

न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा ।
नरयानेन वा यानं यथा मन्दविषेण मे ॥ २३९ ॥

उसने सब मेंढकों से यह सूचित कर दिया। तब प्रसन्न-चित्त उन सब ने मेंढकों के राजा जलपाद से जाकर कहा। वह भी यह अत्यन्त अद्भुत बात है ऐसा समझता हुआ मन्त्रि-सहित तालाब से निकल कर मन्दविष सर्प के फन पर चढ़ गया। शेष मेंढक भी छोटे बड़े के अनुसार उसकी पीठ पर चढ़ गये। अधिक क्या—जिनको उसके ऊपर स्थान न मिला वे उसके पीछे ही दौड़ने लगे। उनकी प्रसन्नता के लिये मन्दविष ने भी अनेक प्रकार की चालें दिखलाईं। तब जलपाद ने सुख पाकर उससे कहा—

जैसा इस मन्दविष सर्प से (पर) चलना मुझे सुखदायी मालूम पड़ता है वैसा न तो हाथी, न घोड़ा, न रथ और न शिविका से ही चलना सुख-प्रद मालूम होता है ॥ २३९ ॥

अथान्येद्युर्मन्दविषश्छद्मना मन्दं मन्दं विसर्पति। तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्—'भद्र! मन्दविष! यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते?' मन्दविषोऽब्रवीत्—'देव! अद्याहारवैकल्यान्न मे वोढुं शक्तिरस्ति।' अथाऽसावब्रवीत्—'भद्र! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्।' तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविषः ससंभ्रममब्रवीत्—'ममायमेव विप्रशापोऽस्ति। तत्त्वानेनानुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि।' ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकान् भक्षयन् कतिपयैरेवाहोभिर्बलवान् संवृत्तः। प्रहृष्टश्चान्तर्लीनमवहस्येदमब्रवीत्—

मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः ।
कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादिता मम ॥ २४० ॥

तब एक दिन मन्दविष छल से (बहाना करके) धीरे धीरे चलने लगा। यह देखकर जलपाद बोला—'भद्र मन्दविष! आज पहिले के समान अच्छी तरह क्यों नहीं ले चलते?' मन्दविष ने कहा—'देव! भोजन न मिलने से मेरे अन्दर आज ले चलने की शक्ति नहीं है।' तब यह बोला—'भद्र! छोटे छोटे मेंढको को खालो।' यह सुनकर मन्दविष के सब अङ्ग (प्रसन्नता से) खिल उठे और वह

प्रसन्न हो कहने लगा—'मुझे ब्राह्मण का यही शाप है कि (मण्डूकों की कृपा से ही तुम्हारी जीविका होगी ।) तुम्हारी इस आज्ञा से मैं प्रसन्न हुआ।' अनन्तर वह (मन्दविष) निरन्तर मेंढकों को खाता हुआ कुछ ही दिनों में बलवान् हो गया । (तब) प्रसन्न हो अन्दर ही अन्दर हंसकर कहने लगा—

कपट से वश में किये हुए तरह-तरह के ये मेंढक मेरे खाने पर कब तक समाप्त न होंगे ? अर्थात् कुछ ही दिनों में समाप्त हो जायेंगे ॥ २४० ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः किमपि नावबुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पस्तमुद्देशं समायातः । तं च मण्डूकैर्वाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मयमगमत् । आह च–'वयस्य ! यदस्माकमशनं तैः कथं बाह्यसे । विरुद्धमेतत् ।' मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः ।
किञ्चित्कालं प्रतीक्षेऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २४१ ॥

सोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' मन्दविषः कथयति—

मन्दविष ने जलपाद के मन को अपने कृत्रिम (बनावटी) वचनों से ऐसा मुग्ध (वश में) कर लिया था कि वह कुछ भी नहीं समझ पाता था । इसी अवसर पर एक बड़ा भारी काला साँप उस स्थान पर आया । वह उसको (मेंढकों को) ढोता हुआ देख कर आश्चर्य में पड़ गया और कहने लगा—'मित्र ! जो हमारे भोजन हैं उन्हीं की सवारी क्यों बने हो (उन्हीं को क्यों ढोते हो) ? यह बात तो (बिलकुल) उलटी है ।' मन्दविष बोला—

मैं यह सब समझता हूँ कि मेंढकों की सवारी क्यों बना हूँ, घृत से अन्धे हुए ब्राह्मण के समान मैं कुछ समय की प्रतीक्षा (इन्तजार) कर रहा हूँ ॥ २४१ ॥

वह (आगुन्तक सर्प) बोला—'यह कैसे ?' मन्दविष बोला—

कथा १६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः । तस्य भार्या पुंश्चल्यन्यासक्तमना अजस्रं विटाय सखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति । अथ कदाचिद्भर्ता दृष्ट्वाऽब्रवीत्—'भद्रे ! किमेतत्परिपच्यते ? कुत्र वाऽजस्रं नयसीदम् ? तत्कथय सत्यम् ।' सा चोत्पन्नप्रतिभा

कृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीत्—'अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनम् । तत्राहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषाँश्चापूर्वान्नयामि ।' अथ तत्पश्यतो गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे । यत्कारणं देव्या निवेदितेनानेन मदीयो भर्त्तैवं मंस्यते यत् 'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयतीति ।' अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य यावत्स्नानं करोति तावत्तद्भर्तापि मार्गान्तरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे ।

किसी स्थान में (नगर में) यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण रहता था । उसकी पत्नी, जो कि व्यभिचारिणी और परपुरुष में अनुरक्त थी, सदा ही घृत और खांड सहित घृतपूर (घेवर) बनाकर अपने जार को दिया करती थी । एक दिन उसके पतिने देख कर कहा'—भद्रे ! तुम यह क्या बना रही हो और सदा कहां ले जाया करती हो ? सच-सच कहो ।' उसे (स्त्री को) तत्क्षण बुद्धि उत्पन्न हुई, वह कल्पित (बनावटी) वचनों से पति से कहने लगी—'यहां से समीप ही भगवती देवी का मन्दिर है । वहाँ मैं उपवास (व्रत) करके बलि (देवता की भेंट) और नये-नये खाद्यपदार्थ ले जाती हूँ ।' तब उसके सामने ही वह सब (भोज्य वस्तु) लेकर देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुई । उसका मतलब यह था (उसने मन में सोचा) इन सब वस्तुओं को देवी को भेंट करने से मेरा पति समझे 'जोकि मेरी ब्राह्मणी (भार्या) प्रतिदिन ही देवी के लिये खाद्य पदार्थ ले जाती है ।' तब देवी के मन्दिर में जाकर स्नान के लिये नदी में प्रविष्ट हो, जब तक वह स्नान करती रही तब तक उसका पति दूसरे मार्ग से आकर देवी (मूर्ति) के पीछे छिप कर खड़ा हो गया ।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्त्तान्धो भविष्यति ?' तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद—'यदि त्वमजस्रं घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि' ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति ।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ । अथान्येद्युर्ब्राह्मणेनाभिहितम्—'भद्रे ! नाहं सुतरां पश्यामि ।' तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया 'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः' इति ।

अनन्तर वह ब्राह्मणी स्नान कर देवी के मन्दिर में आकर देवी को स्नान करा,

चन्दन लगा, माला पहरा, धूपबत्ती जला और बलि चढ़ाकर देवी को प्रणाम कर कहने लगी-'भगवति ! मेरा पति किस प्रकार अन्धा होगा ?' यह सुन कर देवी के पीछे खड़े हुए ब्राह्मण ने आवाज बदल कर कहा—'यदि तू प्रतिदिन घेवर आदि भक्ष्य वस्तु पति को देगी तो वह शीघ्र ही अन्धा हो जायगा।' कृत्रिम वचनों से जिसका मन धोखे में पड़ गया है ऐसी वह कुलटा उस ब्राह्मण को वही वस्तु नित्य प्रति देने लगी। एक दिन ब्राह्मण ने कहा—'भद्रे ! मुझे बिलकुल ही नहीं दीखता।' यह सुन उसने सोचा—'देवी की कृपा का यह फल है।'

अथ तस्या 'हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशम्—'अन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यती'ति निःशङ्कं प्रतिदिनमभ्येति। अथाऽन्येद्युस्तं प्रविशन्तमभ्याशगतं दृष्ट्वा, केशैर्गृहीत्वा, लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैस्तावदताडयत् यावदसौ पञ्चत्वमाप। तामपि दुष्टपत्नीं छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज। अतोऽहं ब्रवीमि—'सर्वमेतद्विजानामि' इति।

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते' इति तमेवमब्रवीत्। अथ जलपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः 'किमनेनाभिहितम्' इति सम्यग् नावगम्य तमपृच्छत्—'भद्र ! किं त्वयाऽभिहितमिदं विरुद्धं वचः ?' अथासावाकारप्रच्छादनार्थं 'न किंचित्' इत्यब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धिं नावबुध्यते। किं बहुना—तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता, यथा बीजमात्रमपि नावशिष्टम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्' इत्यादि।

अनन्तर उस ब्राह्मणी का प्रिय जार यह समझ कर कि 'यह अन्धा ब्राह्मण मेरा क्या करेगा' प्रतिदिन उस ब्राह्मणी के पास आने लगा। एक दिन प्रविष्ट होते हुए उसको (विट को) अपने पास ही देख कर, केशों को पकड़ कर ब्राह्मण ने दण्डे और लातों (पार्ष्णि) द्वारा इतना मारा कि वह वहीं मर गया। और उस दुष्ट पत्नी की नाक काट कर निकाल दिया। इसलिये मैं कहता हूँ-'यह सब जानता हूँ' इत्यादि।

मन्दविष ने अन्दर ही अन्दर हंस कर 'तरह तरह के ये मेंढक' इत्यादि फिर भी उससे कहा। यह सुनकर जलपाद अत्यन्त घबड़ा गया और 'इसने यह क्या कहा ?' यह अच्छी तरह न समझ कर उसने पूछने लगा—'भद्र ! तुमने यह

उलटी क्या बात कही ?' उसने भी अपना अभिप्राय छिपाने की इच्छा से कहा कि—'कुछ नहीं'। (मन्दविष की) बनावटी बातों से भ्रान्त-चित्त जलपाद उसके (मन्दविष के) दुष्टाशय को नहीं समझ पाता था। अधिक क्या—उसने यहां तक सब मेंढकों को खा लिया कि बीजमात्र भी न छोड़ा। इसलिये मैं कहता हूँ—'शत्रु को भी कन्धे पर धारण करे' इत्यादि।

अथ राजन्! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहतास्तथा मयाऽपि सर्वे वैरिणः।

साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति।
समूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः॥ २४२॥

हे राजन्! जिस तरह मन्दविष ने अपने बुद्धि-बल से सब मेंढक नष्ट कर दिये वैसे ही मैंने भी सब शत्रु नष्ट कर दिये हैं। यह ठीक ही कहा है:—

वन में जलती हुई अग्नि वृक्षादिक को जलाती हुई भी उनकी जड़ों को भस्म नहीं करती (जिससे वे फिर हरे हो जाते हैं), परन्तु मन्द-मन्द चलती हुई पाले से भरी हुई हवा जड़सहित नष्ट कर देती है (वे फिर हरे नहीं हो पाते) ॥२४२॥

मेघवर्ण आह—'तात! सत्यमेवैतत्। ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न त्यजन्ति।' उक्तं च यतः—

महत्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम्।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये॥ २४३॥

मेघवर्ण ने कहा—'तात! यह सत्य ही है (जो आपने कहा), जो महापुरुष (महावीर) होते हैं वे विपत्ति में फँस कर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते।' क्योंकि कहा भी है:—

नीतिरूपी भूषण धारण करने वाले (नीतिनिपुण) महापुरुषों का यही बड़प्पन है कि वे विपत्तिजनक संकट (अथवा अत्यन्त कष्ट-प्रद विपत्ति) पड़ने पर भी प्रारम्भ किये कार्य को नहीं छोड़ते॥ २४३॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति॥

जैसे किसी ने कहा भी है कि :—जो नीच, क्षुद्र तथा पामरजन होते हैं वे विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के जो लोग होते हैं वे आरम्भ तो करते हैं किन्तु विघ्न आने पर मध्य ही में छोड़ देते हैं। किन्तु उत्तम कोटि के जो पुरुष होते हैं वे हजारों प्रकार के विघ्न-बाधायें उपस्थित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए कर्म को कभी भी नहीं छोड़ते ॥ २४४ ॥

तत्कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून्निःशेषतां नयता त्वया। अथवा युक्तमेतन्नयवेदिनाम्। उक्तं च यतः—

ऋणशेषश्चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥ २४५ ॥

शत्रुओं का समूल नाश करते हुए आपने मेरा राज्य निष्कण्टक बना दिया है। अथवा नीतिज्ञों के लिये यह उचित ही है। क्योंकि कहा भी है :—

ऋण, अग्नि, शत्रु तथा बीमारी के अवशिष्ट भाग को निःशेष (समूल नष्ट) करके बुद्धिमान् पुरुष दुःख नहीं पाता ॥ २४५ ॥

सोऽब्रवीत्—'देव ! भाग्यवान् त्वमेवासि, यस्यारब्धं सर्वमेव संसिद्ध्यति। तन्न केवलं शौर्यं कृत्यं साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत्क्रियते तदेव विजयाय भवति।' उक्तं च—

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं प्रज्ञा कुलं च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥

तब स्थिरजीवी ने कहा—'हे महाराज ! आप ही बड़े भाग्यवान् हैं, जिनका प्रारम्भ किया हुआ कार्य अपने आप पूरा हो रहा है। अतः हे महाराज ! केवल शूर-वीरता से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती, किन्तु उत्तम बुद्धि से जो कार्य किया जाता है वही विजय का हेतु होता है। कहा भी है :—

शस्त्रों से मारे गये शत्रु नहीं मरते, किन्तु बुद्धि से मारे गये शत्रु ही वस्तुतः मारे जाते हैं क्योंकि शस्त्रों से एक ही शत्रु का शरीर काटा जा सकता है और बुद्धि की चतुराई से शत्रु का वंश, वैभव, यश, कीर्ति आदि सभी नष्ट हो जाते हैं ॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्यायत्नेन कार्यसिद्धयः सम्भवन्ति। उक्तं च—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे दृढीभवति स्मृतिः,
स्वयमुपनयन्नर्थान् मन्त्रो न गच्छति विप्लवम् ।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमनुश्नुते,
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥ २४७ ॥

इसीलिये बुद्धि तथा पराक्रम दोनों से युक्त पुरुष के कार्यों की सिद्धि तो बिना प्रयत्न के अनायास ही हो जाती है । कहा भी है :—

जब किसी मनुष्य की अभ्युदय उपस्थित होता है तब उसकी बुद्धि कार्य के आरम्भ में विस्तृत हो जाती है (कार्य की सब दशाओं को समझने के योग्य हो जाती है) स्मरणशक्ति पुष्ट हो जाती है, किया हुआ विचार (आश्रितनीति) स्वयं ही अर्थों (कार्य फलों) को देता हुआ निष्फल नहीं होता, सफल (फलप्रद) विचारशक्ति, चित्त में उत्साह तथा प्रशंसनीय कार्य में अनुराग उत्पन्न हो जाता है ॥

तथा च नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उक्तं च—

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति ।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ २४८ ॥

और भी–जो पुरुष नीति, उपाय, त्याग और पराक्रम से युक्त होता है उसी को राज्य प्राप्त होता है । कहा भी है :—

दानी, शूर और विद्वान् पुरुष के सत्संग में रुचि रखने वाला मनुष्य गुणवान् हो जाता है, गुणवान् पुरुष को धन प्राप्त होता है, धन की प्राप्ति से प्रभुत्व मिलता है, प्रभुत्ववान् पुरुष की आज्ञा सर्वत्र चलती है, व्यवहृत (बेरोक–टोक चलने वाली) आज्ञा से राज्य बन जाता है ॥ २४८ ॥

मेघवर्ण आह–'नूनं सद्यःफलानि नीतिशास्त्राणि यत्त्वयानुवृत्त्येनानुप्रविश्यारिमर्दनः सपरिजनो निःशेषितः ।' स्थिरजीव्याह—

तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थस्तस्याप्यादौ संश्रयः साधु युक्तः ।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां मान्याऽभ्यर्च्यच्छिद्यते पादपेन्द्रः ॥ २४९ ॥

तब वह मेघवर्ण (काकराज) ने कहा—'अवश्यमेव नीतिशास्त्र सद्यः फल देने वाले होते हैं । क्योंकि तुमने शत्रु के अनुकूल होकर और उससे मेलजोल करके मेरे उस अरिमर्दन शत्रु को बात की बात में परिजन सहित नष्ट कर दिया । यह सुनकर स्थिरजीवी कहने लगा :—

कठोर उपायों द्वारा जो वस्तु प्राप्त करने योग्य हो (वहां भी) पहिले (तीक्ष्ण उपाय प्रयोग करने से पूर्व) उस वस्तु का संश्रय करना चाहिए-उसे अपना बना लेना चाहिए। (देखो) ऊँचे शिखर वाला, वनों का सार, महावृक्ष सत्कार और पूजा करके काटा जाता है ॥ २४९ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेनाभिहितेन, यदनन्तरकाले क्रियारहितमसुखसाध्यं वा भवति । साधु चेदमुच्यते—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः ।
फलैर्विसंवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥२५०॥

हे स्वामिन् ! उस बात के कहने से ही क्या लाभ ? जो बाद में की न जा सके अथवा जो अत्यन्त कष्ट से की सके। यह ठीक ही कहा है :—

अस्थिरबुद्धि, उद्योग (परिश्रम) से डरने वाले, पद पद में सब जगह सैकड़ों दोष देखने वाले पुरुषों के वचन फलानुसारी न होकर (उलटे फलों द्वारा) संसार में मजाक के विषय बन जाते हैं-मनुष्य उनकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २५० ॥

न च लघुष्वपि कर्तव्येषु धीमद्भिरनादरः कर्तव्यः । यतः—

शक्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्यमत्रादरः' क इति कृत्यमुपेक्षमाणाः ।
केचित्प्रमत्तमनसः परितापदुःखमापत्प्रसङ्गसुलभं पुरुषाः प्रयान्ति ॥

बुद्धिमान् पुरुषों को साधारण कार्यों में भी वेपरवाही न करनी चाहिए। क्योंकि :—

कुछ असावधान पुरुष इस कार्य को मैं कर सकता हूँ, यह मामूली काम है, यह बिना परिश्रम ही हो सकता है, इसमें यत्न करने की क्या आवश्यकता है, इस प्रकार विचार कर कार्य की उपेक्षा करने वाले विपत्ति पड़ने से अनायासलभ्य (जिसका प्राप्त होना बहुत मामूली बात है) पश्चात्तापजनित दुःख भोगते हैं ॥२५१॥

तदद्य जितारेर्मद्विभोर्यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति। उच्यते चैतत्—

निःसर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम् ।
सदा दृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २५२ ॥

आज शत्रुविजयी मेरे प्रभु (आप मेघवर्ण को) पहिले के समान निद्रा आयेगी। यह कहा भी है :—

सर्परहित अथवा बंधा हुआ है सर्प जिसमें ऐसे भवन में आराम से नींद

आती है, लेकिन जिस घर में सदा ही सर्प दिखाई पड़ता हो, उसमें बड़ी कठिनता से नींद आती है ॥ २५२ ॥

तथा च—

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्निग्धोपयुक्ताशिषां,
कार्याणां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्गताः,
साऽमर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथं निर्वृतिः ? ॥ २५३ ॥

आत्मसम्मान, अहङ्कार और पराक्रम में आसक्त पुरुष महान् परिश्रम से सिद्ध होने वाले अतएव महत्वपूर्ण (न कि मामूली) हितैषी बन्धुओं से मङ्गलकामना किये जाने वाले, नीति, उत्साह और उन्नतियुक्त कार्यों के अन्त को जब तक प्राप्त नहीं होते-ऐसे कार्यों को जब तक पूरा नहीं कर लेते-तब तक उद्विग्न हृदय में अवकाश-कार्यावसान-में प्राप्त होने वाला (रिक्त स्थान में रहने वाला) सुखी कैसे रह सकता है ? कार्य की समाप्ति से पूर्व महान् पुरुष कभी सुखी नहीं होते ॥ २५३ ॥

तदवसितकार्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदिदमधुना निहितकण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौत्रादिक्रमेणाचलछत्रासनश्रीः चिरं भुङ्क्ष्व । अपि च—

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।
अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २५४ ॥

मेरा आरब्ध कार्य (सफलतापूर्वक) समाप्त हो चुका है अतः मेरा हृदय अब विश्राम सा करना चाहता है—अब मैं राज्य कार्य छोड़कर विश्राम करना चाहता हूँ । अब तुम प्रजापाल में तत्पर होकर यह निष्कण्टक राज्य चिरकाल तक भोगो, पुत्रपौत्रादि क्रम से-वंशपरम्परासे तुम्हारा छत्र, आसन और राजलक्ष्मी अचल हो ।

जो राजा पालन आदि गुणों द्वारा प्रजा को प्रसन्न नहीं करता उसका राज्य बकरी के गले के स्तन की आभा के समान निरर्थक है ॥ २५४ ॥

गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो, रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां, सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥ २५५ ॥

जिस राजा की शूरता आदि गुणों में प्रीति, द्यूत आदि व्यसनों (बुरी आदतों) में अप्रीति और योग्य सेवकों में स्नेह होता है वह राजा चिरकाल तक चञ्चल (हिलती हुई) चामररूपी वस्त्र वाली तथा छत्ररूपी भूषण से सुशोभित राजलक्ष्मी को भोगता है ॥ २५५ ॥

न च त्वया 'प्राप्तराज्योऽहमि'ति मत्वा श्रीमदेनात्मा व्यंसयितव्यः । यत्कारणम्, 'चला हि राज्ञो विभूतयः । वंशारोहणवद्राज्यलक्ष्मीदुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रयत्नशतैरपि धार्यमाणा दुर्धरा, प्रशस्ताराधिताऽप्यन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रमिवाघटितसंश्लेषा, पवनगतिरिवातिचपला, अनार्यसङ्गतिरिवाऽस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा, सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागा, जलबुद्बुदावलीव स्वभावभङ्गुरा, शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना, स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा । अपि च—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥ २५६ ॥

किंच, तुम्हें 'मुझे राज्य मिल गया है' यह समझ कर ऐश्वर्यमद से अपने आपको व्यसनों में नहीं फँसाना चाहिए। क्योंकि राजा का ऐश्वर्य अत्यन्त चञ्चल होता है। राजलक्ष्मी बांस पर चढ़ने के समान दुरारोह होती है, क्षणभर में ही पारे की तरह नष्ट हो जाती है। सैकड़ों प्रयत्नों द्वारा धारण करने पर भी मुश्किल से धारण होती है, अच्छे प्रकार सेवन किये जाने पर भी अन्त में धोखा देती है, एक ही विषय (जगह) में जिसका चित्त स्थिर नहीं रहता ऐसी वानर जाति के समान लक्ष्मी अनेक पुरुषों के चित्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, कमलपत्र पर जल के समान किसी से सम्पर्क नहीं रखती, वायु की गति की तरह अत्यन्त चञ्चल होती है; दुष्टों की प्रीति के समान अस्थिर, जिस प्रकार सर्प के पास जाना कष्टप्रद है उसी तरह इसका सेवन भी दुःखदायी होता है। सायङ्कालीन मेघपंक्ति के समान यह अल्पकाल ही किसी से अनुराग रखती है (संध्याकालीन मेघों में भी अल्पकाल ही लालिमा रहती है), जल के बबूलों की तरह यह स्वभाव से ही विनष्ट होने वाली है, सर्प के स्वभाव के समान यह कृतघ्न होती है तथा स्वप्न में पाई हुई धनराशि के समान क्षण में दिखाई पड़ती और क्षण में नष्ट हो जाती है।

और भी—जिस समय राजाओं का अभिषेक किया जाता है उसी समय उनको समझ लेना चाहिए कि 'हमारे ऊपर विपत्तियां अवश्य पड़ेंगी'। राजाओं के अभिषेक (स्नान) समय मानों घड़े के जल के साथ साथ उनके सिर पर विपत्तियाँ भी गिराते हैं ॥ २५६ ॥

न च कश्चिदनधिगमनीयो नामाऽस्त्यापदाम्। उक्तं च—

रामस्य व्रजनं, बलेर्नियमनं, पाण्डोः सुतानां वनं,
वृष्णीनां निधनं, नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम्।
नाट्याचार्यकमर्जुनस्य, पतनं संचिन्त्य लङ्केश्वरे,
सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते, कः कं परित्रायते ॥ २५७ ॥

और इस संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जिसके ऊपर विपत्ति नहीं आ सकती हो। कहा भी है :—

श्रीरामचन्द्र का वन जाने, दैत्यराज बलि के बन्धन में पड़ने, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादि के वनवास, यादवों के विनाश, राजा नल के राज्य से भ्रष्ट होने, अर्जुन के नाट्याचार्य पद को ग्रहण करने और लङ्काधिपति रावण के पतन को विचार कर (यह मालूम पड़ता है कि) मनुष्य सब कुछ कालवश सहन करता है, इस संसार में कौन किसकी रक्षा करता है ? ॥ २५७ ॥

क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद्गतः ?,
क्व स जलनिधेर्वेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा।
क्व स करतलाज्जातो वैन्यः क्व सूर्यतनुर्मनुः,
ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥ २५८ ॥

जो राजा दशरथ देवेन्द्र के सखा बन कर स्वर्गलोग में पहुँचे थे वे अब कहाँ हैं ? वह राजा सगर, जिसने समुद्र की वेला—तटभूमि को बांध लिया था—समुद्रपर्यन्त राज्य किया था कहाँ गया ? करतल (हथेली) के मलने से उत्पन्न पृथु महाराज कहाँ गये ? सूर्यपुत्र मनु कहाँ हैं ? इसमें कोई सन्देह नहीं, इन सबको प्रबल काल ने उत्पन्न कर नष्ट कर दिया ॥ २५८ ॥

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा, क्व सत्यव्रतः,
देवानां नृपतिर्गतः क्व नहुषः, सच्छास्त्रवान् केशवः।
मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः,
कालेनैव महात्मना त्वनुकृताः कालेन निर्वासिताः ॥२५९॥

त्रिभुवन विजयी राजा मांधाता कहाँ गये ? सत्यव्रत का पालन करने वाले महात्मा युधिष्ठिर कहाँ हैं ? देवताओं के राजा—इन्द्र पदवी प्राप्त करने वाला—राजा नहुष कहाँ चला गया ? (गीतादि) सच्छास्त्रोपदेष्टा केशव कहाँ गये ? प्रबल काल ने रथ और हाथियों सहित, इन्द्रासन पर बैठने वाले इन सबको बनाया और उसी ने इनको यहाँ से निकाल दिया—नष्ट कर दिया ॥ २५९ ॥

अपि च—

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥ २६० ॥

और भी—वे राजा, वे मन्त्री, वे रमणियां, वे उपवन और वन, वे राजादि सब वस्तुएँ काल की दृष्टि में पड़ कर नष्ट हो गये ॥ २६० ॥

एवं मत्त-करि-कर्ण-चञ्चलां राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्ययैकनिष्ठो भूत्वोपभुङ्क्ष्व ।

हे महाराज ! इस प्रकार यह राज्यलक्ष्मी तो मत्त हाथी के कानों की तरह ही अत्यन्त चञ्चल है । इसको पाकर गर्वित होना व्यर्थ है । इसलिये आप इस लक्ष्मी को पाकर नीति मार्ग से चलते हुए इसका उपभोग कीजिए ।

'इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके काकोलूकीयं
नाम तृतीयं तन्त्रम् ।'

